जिज्ञासा

रूह व आत्मा से आत्म-ज्ञान के लिए उठी पिपासा का नाम **'जिज्ञासा'** है। कभी स्वयं से एक अति महत्त्वपूर्ण प्रश्न करें, कि प्रभु ने अति कृपा करके जो मुझे मानव-देह दी है, उसमें **जीवन से** मैं क्या चाहता हूँ? यह नहीं, कि अब मेरी चाह क्या है? चाह तो समय-समय पर बदलती रहती है। **मैं मानव-देह धारण करके जीवन से क्या चाहता हूँ? इस प्रश्न का उत्तर कोई मानवीय बुद्धि नहीं दे सकती।** मन-बुद्धि में इस प्रश्न के आते ही आपके मानवीय जीवन-मूल्य तुरन्त उच्चतर व उच्चतम् होने लगते हैं। जैसे शेयर मार्किट में शेयरों का Index कभी एकदम उच्च हो जाता है, उसी प्रकार मानव-मस्तिष्क में यह प्रश्न कौंधते ही जीवन-मूल्य एकदम उच्चतम शिखर पर पहुँच जाते हैं और वहाँ ऐसे स्थिर हो जाते हैं, कि कभी नीचे नहीं गिरते। वस्तुतः यह प्रश्न नहीं है, यह **जिज्ञासा** है। प्रश्न मानव-बुद्धि से उठते हैं और उनका उत्तर भी मानव-बुद्धि से दिया जा सकता है। लेकिन जिज्ञासा प्रश्न जैसी लगते हुए भी प्रश्न नहीं है। कोई प्रश्न **'जिज्ञासा'** है, इसका लक्षण यह है, कि उसका उत्तर किसी भी मानवीय बुद्धि से नहीं दिया जा सकता। निश्चित रूप से वह मानव-बुद्धि से उठा हुआ भी नहीं होगा। मानव-देह में वास्तविक मानव-जीवन इस **'जिज्ञासा'** के उठने के बाद ही प्रारम्भ होता है।

'जिज्ञासा' का कोई अंग्रेजी अनुवाद नहीं है। क्योंकि इन पाश्चात्य देशों में **'जिज्ञासा' की कोई धारणा ही नहीं है। वह भौतिक जगत है, जहाँ मात्र मानव-बुद्धि से उठे प्रश्न व उनके उत्तर ही उपलब्ध हैं।** भारतीय

और मात्र भारतीय मानव-देहधारी ही यह सोचता है, कि मुझे देह क्यों दी गई है? सब कुछ करने-कराने वाला ईश्वर है, एक पत्ता भी उसकी मर्ज़ी के बिना नहीं हिलता, तो उसने मुझे पशुओं से पृथक् उत्कृष्ट, विलक्षण बुद्धि क्यों दी है? मेरी इस बुद्धि के पूर्णतः विकसित व परिपक्व होने से पहले माँ के गर्भ में मेरी देह के लिए गर्भाधान, शैशवावस्था, बाल्यावस्था से आज तक जो कुछ हुआ, मेरी सोच से नहीं हुआ और जब मेरी यह सोच गुम हो जाएगी, तो भी कुछ मेरी सोच से नहीं होगा। तो मध्य में मुझे यह उत्कृष्टतम्, विलक्षणतम्, दिव्यतम् बुद्धि मिली क्यों है?

हम जीवन का एक दिन लें। आज का दिन सबके लिए एक ही है। यह एक दिन सबके जीवन-काल **में** अन्तिम दिन होता है, क्योंकि यह आज का दिन दोबारा कभी नहीं आएगा। यह दिन किसी के जीवन-काल **का** अन्तिम दिन भी हो सकता है। **एक ही दिन सबके लिए पृथक्-पृथक् है और प्रत्येक दिन प्रत्येक के लिए पृथक्-पृथक् है।** जीवन-काल के दो दिन कभी एक जैसे नहीं होते। ऐसा क्यों है? इस मिथ्या सृष्टि का **'सद्'** जानना क्या आवश्यक नहीं है? मिथ्या सृष्टि में काल के ये पाँचों **'सद्'** हैं, जिनका उत्तर अकाल **'ईश्वर'** द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। यह जानने की किसी महापुरुष को उत्कण्ठा ईश्वर-कृपा से ही होती है। किसी जिज्ञासु की **'मैं'** (जीवात्मा स्वरूप) जाग्रत होकर उसे बेचैन कर देती है, कि ऐसा क्यों है? हर दिन परिवर्तनशील क्यों है? एक ही दिन सबके लिए पृथक्-पृथक् क्यों है? प्रत्येक दिन प्रत्येक व्यक्ति के लिए पृथक् क्यों है, हर दिन जीवन-काल **में** अन्तिम दिन क्यों है? मैं स्वयं इस जीवन से क्या चाहता हूँ? उस देह से मैं देह के लिए प्रोग्राम बनाता हूँ, जिस देह के अगले क्षण का मुझको ज्ञान नहीं है। देह तो चली जाएगी, मैं जीवन से क्या चाहता हूँ, देह मुझे क्यों मिली है? **आत्म-ज्ञान की यह लिप्सा ही जिज्ञासा है।**

जिज्ञासा एक अग्नि है। किसी अग्नि में पूरी तरह से भड़कने से पहले सुगबुगाहट के साथ चिंगारियाँ निकलती हैं, फिर हवा के झोंके आते हैं, तो आग पकड़ लेती है। उसके बाद लपटें निकलती हैं जो प्रचण्ड,

प्रचण्डतर व प्रचण्डतम् होती जाती हैं। उनमें तीव्रतम् उष्मा होती है, जो किसी भी वस्तु को भस्म करने में समर्थ होती है। इसी प्रकार पहले **जिज्ञासा** की अग्नि धीरे-धीरे सुलगती है, फिर जीवन में सद्पुरुष मिलने लगते हैं और क्रमशः जीवन में विभिन्न घटनाओं रूपी पवन के वेग से जिज्ञासा की अग्नि प्रचण्ड, प्रचण्डतर व प्रचण्डतम् होती जाती है। वे घटनाएँ उस जिज्ञासु के प्रारब्धवश नहीं होतीं। कोई जन्मपत्री उन्हें नहीं लिख सकती, ज्योतिषी उनकी सम्भावना की भविष्यवाणी नहीं कर सकता। ऐसी घटनाएँ दिव्यता द्वारा प्रेरित व प्रेषित होती हैं। जिज्ञासु के जीवन में घटने वाली ऐसी घटनाएँ उसकी जिज्ञासा को हवा देती हैं, और **जिज्ञासा** को बढ़ाने में उत्प्रेरक का कार्य करती हैं। जिज्ञासु के मन व मस्तिष्क में उन दैहिक व भौतिक घटनाओं का कोई विशेष महत्त्व नहीं होता, लेकिन लोगों की दृष्टि में होता है। **उन घटनाओं का जिज्ञासुओं पर प्रभाव यह होता है, कि कोई प्रभाव नहीं होता।**

इस प्रकार जिज्ञासु के जीवन में विभिन्न दिव्य घटनाएँ घटित होती हैं, जो उसकी जिज्ञासा की अग्नि को तीव्रतर से तीव्रतम् करती रहती हैं। उसके जीवन में भौतिक लाभ अथवा हानि भी होती रहती है, परन्तु इनसे वह न तो बहुत प्रसन्न होता है और न ही अवसाद उसे घेर लेता है। वह अपने सद्गुरु से जुड़ा हुआ दिव्यता की ओर से प्रेषित उन घटनाओं का आनन्द लेता है। उसके रोम-रोम से जिज्ञासा की अग्नि निकलने लगती है, ये जिज्ञासाएँ आत्मा से उठती हैं। उन दिव्य घटनाओं के घटने के बाद जिज्ञासु वे घटनाएँ भूल जाते हैं, जबकि उन घटनाओं ने उनके परिवार, समाज व विश्व को आमूल हिला दिया होता है। जिज्ञासा की अग्नि भड़कने के बाद जिज्ञासु के मानस से वे घटनाएँ लुप्त हो जाती हैं। साथ ही उनके मस्तिष्क से जीवन में भौतिक लाभ-हानि से सम्बन्धित समस्त प्रश्न-उत्तर भी समाप्त हो जाते हैं।

जिज्ञासा की अग्नि, मानवीय बुद्धि के समस्त प्रश्नों-उत्तरों को स्वतः और तुरन्त निगल जाती है, साथ ही वह किसी अन्य बुद्धि से उठे

प्रश्न-उत्तरों को भी सुनना नहीं चाहता। वह किसी बुद्धि के उत्तरों से संतुष्ट नहीं होता। कोई तथाकथित गुरु यदि गीता आदि ग्रन्थों के उद्धरणों द्वारा उसकी जिज्ञासा को अपनी बुद्धि से शान्त करना चाहे, तो वह कभी-कभी अति उग्र हो जाता है। श्रीकृष्ण ने जो कहा, वह तो स्वयं श्रीकृष्ण ही बता सकते हैं। श्रीकृष्ण सागर हैं, उन्हें मानव अपनी बुद्धि से नहीं जान सकता। जिज्ञासु को ज्ञान हो जाता है, कि यह वक्ता, मात्र अपनी विद्वता का प्रदर्शन कर रहा है। क्योंकि वह वही बताएगा, जो उसने अपनी बुद्धि से पढ़ा और समझा है। वास्तविक जिज्ञासु इन ग्रन्थों के उद्धरण व टीका-टिपणियों से कभी संतुष्ट नहीं होता। उसकी जिज्ञासा और भड़क जाती है।

इस प्रकार की घटनाओं की हवा से जिज्ञासा जब भड़कती है, तो जिज्ञासु के अपनी बुद्धि के प्रश्न-उत्तर समाप्त हो जाते हैं और किसी और की बुद्धि के प्रश्न-उत्तरों को वह सुनना नहीं चाहता। वह स्वयं में पूर्ण आश्वस्त होता है, कि मेरे भीतर उठी इन जिज्ञासाओं का उत्तर किसी उत्कृष्टतम् बुद्धि के पास भी नहीं है। श्रद्धा से जिज्ञासा रूपी अग्नि को हवा मिलती है। यह रूह व आत्मा से उठी अग्नि है। वह किसी सद्-पुरुष, संत, सद्गुरु, आत्मचिन्तक की खोज करता है और अपना सब कुछ दाँव पर लगाने को तत्पर रहता है। उसकी जिज्ञासा की अग्नि सद्गुरु रूपी महाअग्नि से ही शान्त होती है।

जिज्ञासु को दिव्य अधिनियमानुसार सद्गुरु मिल जाता है, क्योंकि सद्गुरु भी उसे ढूँढ रहा होता है। इतिहास गवाह है, कि फकीर, मुरीदों के पीछे भागे हैं। गुरु नानक देव जी ने लहना का हाथ पकड़ा था। रामकृष्ण परमहंस विवेकानंद से लिपट गए, कि बेटा ! मुझे मत छोड़ना, मैं तुझे चाहता हूँ। यही विवेकानंद लाहौर में प्रवचन देते समय श्रुतिगम्य गहन ब्रह्मसूत्रों को बोल बैठे। प्रवचन के बाद जब भीड़ छंट गई, तो उन्होंने एक नवयुवक को बैठे देखा। उसका नाम रामतीर्थ था। विवेकानंद ने कहा, कि जनसाधारण की इस भीड़ में तुम्हीं थे, जो मुझसे गहन ब्रह्मसूत्रों को बुलवा रहे थे। तुम जन्मों-जन्मान्तरों के बादशाह हो, यहाँ क्या कर रहे हो? इसके बाद स्वामी

रामतीर्थ ने घर-बार छोड़ दिया और आत्मचिन्तन के लिए निकल गए। अतः जिज्ञासु और सद्गुरु दोनों एक दूसरे को खोज लेते हैं।

जिज्ञासु का गुफाओं-कन्दराओं में रात-रात बैठना, उसका आसन में स्थिर होना, जल में एक पैर पर खड़े होना एवं गहन जंगलों में शेर-चीतों व साँपों में खेलना, लोगों को तप लगता है। परन्तु उसे तो साँप भी शिव-रूप ही प्रतीत होते हैं, कि कदाचित वे ही सद्गुरु बन कर उसकी जिज्ञासा की अग्नि को शान्त कर दें। सर्प उसके शरीर से खेल कर चले जाते हैं, क्योंकि उसका किसी प्राणी के प्रति दुर्भाव ही नहीं रहता। मृत्यु उसे शिवरूपा लगती है। ये जिज्ञासु के लक्षण हैं। वह किसी महा अग्निमय ज्वाला रूप सद्गुरु के सम्मुख पहुँचता है, तो वहाँ जाकर अपनी जिज्ञासा भूल जाता है। उस अति अग्नि सद्गुरु के सामने आते ही जिज्ञासु की अग्नि स्वयं स्वतः ही शान्त हो जाती है:–

''हर रोज़ इरादा करता हूँ,
हर बात मैं उनसे कह दूँगा,
कमबख्त ज़ुबाँ खुलती ही नहीं,
जब कातिल सामने आता है।''

जिज्ञासु की जिज्ञासा अनुभूति में परिवर्तित हो जाती है। सद्गुरु पूछता है, कि क्यों आए हो? वह कहता है कि प्रभु ! मैं आया नहीं हूँ, लाया गया हूँ। सद्गुरु की अनुभूतिगम्य प्रचण्ड अग्नि उसकी जिज्ञासा की अग्नि को **'लील'** जाती है। सद्गुरु की उस महासौन्दर्यमयी अग्नि में जिज्ञासा की अग्नि समा जाती है:–

''अपनी छवि बनाय के जो गई पिया के पास,
जब देखी छवि पी की तो अपनी भूल गई।
छाप तिलक सब छीनी रे मोसे नयना मिला के।''

सद्गुरु फिर बोलता **सा** है, सद्शिष्य पूछता **सा** है और सुनता **सा** है। सद्शिष्य को अपना स्वरूप, अपनी आत्मा मिल जाती है। दोनों एक दूसरे में खो जाते हैं:–

''कुछ न कहो, कुछ भी न कहो,
क्या कहना है, क्या सुनना है,
तुमको पता है, हमको पता है।
समय का यह पल, थम सा गया है,
और इस पल में कोई नहीं है,
बस एक मैं हूँ, बस एक तुम हो।

इसके बाद दोनों बोलते **से** हैं। **जो कुछ भी सद्‌गुरु उससे करवाता है, वह वास्तव में सद्‌गुरु ही उसकी चेतना बनकर करता है। सद्‌गुरु करवाता सा है।** यह भेद सद्‌शिष्य भी जानता है। सद्‌गुरु को भी वह भटकता हुआ बिन्दु मिल जाता है, जो जन्म-मृत्यु के मध्य बँध काल-चक्र की परिधि में केन्द्र-बिन्दु तलाश कर रहा होता है। किसी जन्म में काल-चक्र की परिधि का भटकता वह बिन्दु जब व्यास को छू लेता है, तो वह व्यासमय हो जाता है। **व्यास परिधि के दो विपरीत बिन्दुओं को मिलाने वाली वह सरल रेखा है, जो केन्द्र से होकर जाती है।** ये विपरीत बिन्दु हैं– सुख-दुःख, मिलना-बिछुड़ना, खोना-पाना, लाभ-हानि, मान-अपमान, हर्ष-ग़म, जन्म-मृत्यु आदि। इसी का नाम जीवन है, व्यास इस रहस्य को जानता है। वह जीवन के काल-चक्र की परिधि को दो भागों में बाँट देता है, जिनका क्षेत्रफल समान होता है। जब जन्म-जन्मान्तरों से काल-चक्र में भटकते हुए किसी सद् जिज्ञासु को सद्‌गुरु या व्यास मिल जाता है, तो उसका Realisation का आधा चक्र लगभग पूरा हो चुका होता है और शेष Utilisation का अर्ध-चक्र रह जाता है। वह जिज्ञासु सद्‌गुरु के मिलने के बाद उसी की कृपा से अनुभूतिगम्य जीवन का आनन्द लेना प्रारम्भ करता है। Instantly and spontaneously Realisation part is over and Utilisation starts.

सद्‌गुरु के मिलते ही तुरन्त और स्वतः ही सद्‌शिष्य की जिज्ञासा अनुभूति में परिवर्तित हो जाती है। सद्‌गुरु के सम्मुख आकर भी यदि जिज्ञासा रही, तो वह जिज्ञासु कैसा और वह सद्‌गुरु कैसा? सद्‌शिष्य स्वतः

ही सद्गुरु की अनुभूतियों का अधिग्रहण करना प्रारम्भ कर देता है। अनुभूति फिर जिज्ञासा में कभी नहीं बदलती। यह एकतरफा प्रक्रिया है। अनुभूति के बाद शब्दों का श्रवण, पठन आदि समाप्त हो जाता है। उसके बाद सब कुछ स्वतः होता है, वे दोनों कुछ नहीं करते। शब्द अनुभूति के सम्मुख बौने पड़ जाते हैं। आत्मानुभूति ही ब्रह्मानुभूति में लीन होकर कठिन व गहन मौन बन जाती है। मानवीय बुद्धि स्थिर हो जाती है तथा विवेक, मेधा, प्रज्ञा व ऋतम्भरा चारों दिव्य बुद्धियाँ जाग्रत हो जाती हैं।

सद्गुरु एवं सद्शिष्य के मध्य की अनुभूति को विज्ञान के **'औसमौसिस'** (Osmosis) नामक प्रकरण से समझा जा सकता है। विज्ञान का सूत्र है, कि तरल घोल, गाढ़े घोल की ओर आकर्षित होते हैं। उदाहरणतः, यदि किशमिश को पानी में रखा जाए, तो किशमिश सुबह तक फूल जाती है। क्योंकि पानी पतला है और किशमिश के अन्दर गाढ़ा घोल है। पानी किशमिश की ओर बढ़ता है और किशमिश फूलते-फूलते एक सीमा के बाद फट जाती है फिर किशमिश पानी की ओर बहती है और जब तक दोनों घोल एक जैसे नहीं हो जाते, तब तक बहती रहती है। फिर पानी व किशमिश दोनों एकरूप हो जाते हैं। यही प्रकरण सद्गुरु एवं जिज्ञासु सद्शिष्य के बीच होता है। **जब तक किशमिश फूली नहीं, पानी को अपना रहस्य नहीं बता सकती थी और न ही पानी अपने विषय में कुछ बता सकता था।** जब किशमिश फूल जाती है और फट जाती है, तो पानी की ओर बहने लगती है। तब उसे पानी को अपना रहस्य बताने की आवश्यकता ही नहीं रहती। **'औसमौसिस'** अर्थात् 'आओ समा जाओ', दोनों एक दूसरे में समा जाते हैं। किशमिश पहले बताती तो जल को उसका रहस्य पल्ले नहीं पड़ता और इस स्वतः प्रक्रिया के बाद में बताना आवश्यक ही नहीं रहा। **यही सद्गुरु और जिज्ञासु के मध्य का व्यवहार व कार्यक्रम सा होता है।**

सद्गुरु किसी को ज्ञान नहीं देता, वह सद्शिष्य के आच्छादित ज्ञान का प्रकाट्य कर देता है। घर में गैस सिलेण्डर है, गैस चूल्हे पर भोजन बनता है। गैस सिलेण्डर भरा होने पर ही चूल्हा जलता है। जब जिज्ञासु

श्रद्धा व समर्पण भाव से जिज्ञासा रूपी अग्नि से भरा हुआ, सद्‌गुरु के चरणों में आता है, तो सद्‌गुरु के दर्शन मात्र से सद्‌शिष्य का स्वरूपगत अन्तर्निहित ज्ञान स्वतः जाग्रत हो जाता है। सद्‌गुरु व सद्‌शिष्य के मध्य परस्पर **व्यवहार सा** होता है। जैसे सद्‌गुरु चरण दबवा रहा है, सद्‌शिष्य दबा रहा है। दोनों अनिर्वचनीय आनन्द में बैठे होते हैं। व्यास के सम्मुख होते ही सद्‌शिष्य के कर्म-धर्म सब समाप्त हो जाते हैं। समर्थ सद्‌गुरु मार्ग को ही मंज़िल में परिवर्तित कर देता है :–

''सन्मुख होहिं जीव मोहि जबहिं, कोटि जन्म अघ नासहिं तबहिं।''

सद्‌शिष्य को बस यही करना है, कि उसे कुछ नहीं करना। तब जो उससे करवाया जाए, वही वह करता है। अब तक जन्मों-जन्मान्तरों में उसने भटकन पाई थी, अब वह जीवन का आनन्द लेता है। वह बस यही सोचता है, कि उसके लिए सोच कोई और रहा है। जब ईश्वर से जुड़ गए तो जो कुछ हो रहा है, फिर उसका आनन्द लेना ही शेष रहता है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र भगवान की जय''

(23, 24 मई, 2006)

स्रष्टा, सृष्टि एवं दृष्टा

(भाग 1)

आज आप समस्त जिज्ञासुओं की पावन उपस्थिति में आपके सम्मुख अति-अति दुर्लभ व रहस्यमय विषय रखने की प्रेरणा हुई है। विषय का नाम है–''**स्रष्टा, सृष्टि एवं दृष्टा**''**।** विषय बहुत विस्तृत एवं गहन है। मैं इष्ट-कृपा से इसे अत्यधिक सरलीकृत करके आपकी जिज्ञासाओं को शान्त करने का प्रयत्न करूँगा। आपकी विशेष एकाग्रता एवं श्रद्धा वांछनीय है। निस्सन्देह आप परम जिज्ञासु हैं, अन्यथा ये विषय सर्वसाधारण में कहने के नहीं हैं।

इन कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों का स्रष्टा एक है; वह है–**शिव।** यह सम्पूर्ण जगत शिव-शक्ति क्रीड़ा का बाह्य प्रकाट्य है। **'शिव'** में छोटी **'इ'** शक्ति का बीज है, शक्ति का प्रतीक है और शिव में शक्ति समाहित ही है। **'शिव'** से यदि छोटी **'इ'** हटा दें, तो **'शव'** रह जाता है और शिव, शव नहीं है। प्रश्न उठता है, कि शिव में शक्ति निहित है, तो शिव-शक्ति क्रीड़ा का अर्थ क्या हुआ? शिव-शक्ति दो नहीं हैं, क्योंकि संसार शिव **और** शक्ति की क्रीड़ा नहीं है। **यह शिव-शक्ति-क्रीड़ा है।** लेकिन कोई भी क्रीड़ा कम से कम दो पक्षों में होती है। शिव क्या है?

''निराकार रूपं शिवोऽहम् शिवोऽहम्।
सच्चिदानंदोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

शिव, पंच-प्राणों की अदृश्य महाज्योति है, उसका स्वरूप निराकार है। वह प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान–इन पाँच प्राणों की सर्वव्याप्त,

अदृश्य, अखण्ड, असीम, अथाह, अविरल, अकाट्य, संघनित एवं परम सशक्त ज्योति है। किसी ज्योति को आप ध्यान से देखें तो पाएँगे, कि हर ज्योति का एक आधार होता है। बिना आधार के कोई ज्योति प्रदीप्त नहीं हो सकती। अतः पंच-प्राणों की अदृश्य ज्योति का भी कोई आधार होना चाहिए। किसी शक्ति को धारण करने के लिए महाशक्ति चाहिए और महाशक्ति को धारण करने के लिए अति शक्ति चाहिए। **शिव का 'वैराग' उसकी अति शक्ति है, जो उसके स्वरूप महासशक्त पंच-प्राण-पुंज की महाज्योति का आधार है।** पंच-प्राणों की ज्योति भी अदृश्य है और उसका आधार यह निहित अतिशक्ति **'वैराग'** भी अदृश्य है। वैरागी-त्यागी शिव अति शक्ति से ठसाठस परिपूरित है। जब शिव स्वान्तः सुखाय, अपने मन की मौज में खेलना चाहता है, तो इस निहित अतिशक्ति **'वैराग'** से अपनी पंच-प्राणों की ज्योति को प्रकट करता है। यह वैराग पाँचों प्राणों का संरक्षक है और उसी से पाँचों प्राणों का प्रस्फुटन होता है। वैराग पर ही पंच-प्राणों की शक्ति खेलती है और वैराग ही इस महा सशक्त ज्योति को खिलाता है। **अपनी अदृश्य ज्योति और वैराग में शिव स्वतः, स्वान्तः सुखाय और स्वयं में क्रीड़ा करता है।**

शिव की समस्त शक्ति वैराग में निहित रहती है। शक्ति से अधिक महत्त्वपूर्ण शक्ति को सम्भालने की शक्ति है। **'वैराग'** की यह महत्ता है, कि जहाँ वैराग जाग्रत होगा, वहाँ पाँचों प्राणों का पुंज अवश्य होगा और पंच-प्राण-पुंज, वैराग के आधार के बिना नहीं हो सकता। **जहाँ शिव का वैराग प्रकट होगा, वहाँ वह ज्योति प्रकट हो जाएगी, क्योंकि ज्योति का प्राकट्य वैराग से है। वैराग ही ज्योति का आधार है जो उसे प्रदीप्त रखता है। शिव जब समाधिस्थ होता है, तो उसकी पंच प्राणों की ज्योति वैराग में समाहित हो जाती है।** यदि शक्ति को समाहित करने की शक्ति न हो, तो शक्ति उच्छृंखल हो जाएगी, विध्वंसकारी हो जाएगी।

जब शिव-शक्ति क्रीड़ा होती है, तो पंच-प्राण पुंज शिव **अपने वैराग से वैराग द्वारा ही खेलता है।** कभी हम बैठे-बैठे अपने हाथों से कोई क्रीड़ा

करना चाहें तो अपने हाथों को नचाएँगे। यदि हम अपनी टाँगों से क्रीड़ा करना चाहें तो अपनी टाँगों को अपनी रुचि के अनुसार हिलाएँगे। **कोई भी क्रीड़ा द्वैत में होती है।** अतः जब शिव वैराग से वैराग द्वारा खेलता है, तो उसके पाँच प्राणों की ज्योति का पंच-महाभूतों के रूप में बाह्य प्रकाट्य होता है। प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान ये अदृश्य प्राण क्रमशः अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल और आकाश के रूप में दृश्यमान हो जाते हैं। **पाँच प्राणों की महाशक्ति स्वयं में समेटे शिव अपनी निहित शक्ति वैराग से वैराग द्वारा जब क्रीड़ा करता है तो पाँच प्राण, पंच-महाभूतों के रूप में दृश्यमान हो जाते हैं और उसकी निहित शक्ति वैराग, भस्मी के रूप में इन पाँचों महाभूतों में अदृश्य रूप से समाहित हो जाती है।**

पाँचों महाभूत, जिनसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में समस्त निर्माण, पालन और संहार होता है–ये स्वयं में सहज जड़ हैं। ये सहज जड़ इसलिए हैं, क्योंकि इन्हें अपना और ईश्वर का कोई ज्ञान नहीं है। **ईश्वर के प्रकाट्य को ईश्वर का ज्ञान नहीं है। शिव की स्वयं में महाचेतन लीला का यह चमत्कार दर्शनीय है, कि ईश्वर की स्वतः, स्वयं में, स्वान्तः सुखाय क्रीड़ा में वैराग द्वारा वैराग से ही उसके पाँच प्राणों का प्रकाट्य जिन पाँच महाभूतों के रूप में होता है, उन्हें अपना अथवा ईश्वर, किसी का कोई ज्ञान नहीं है।** ये सहज जड़ हैं। इसलिए इनका संचालन, पालन, सम्मिलन, रूपान्तरण, संशोधन, समाहन सम्पूर्णतया इनमें निहित अति शक्ति, शिव का **'वैराग' अदृश्य भस्मी के** रूप में करता है। इस प्रकार **शिव अपनी क्रीड़ा का समस्त प्रकाट्य इन पंच-महाभूतों में समाहित भस्मी द्वारा ही करता है।** पंच-महाभूतों में शिव की निहित शक्ति अदृश्य वैराग, अदृश्य भस्मी के रूप में कण-कण में समाहित है। नहीं तो हवा कैसे चलेगी, पृथ्वी घूमेगी कैसे, अग्नि में प्रचण्डता कैसे आएगी, जल में वेग और आकाश में विभिन्न परिवर्तन कहाँ से आएँगे? क्योंकि ये पाँचों तत्त्व तो स्वयं में निराकार और सहज जड़ हैं। **इनमें समाहित अदृश्य भस्मी शिव के वैराग द्वारा प्रेरित व संचालित होती है।** समुद्रों में जल-प्रलय, सुनामी, पृथ्वी पर भूकम्प, आकाश

में विभिन्न उल्का पिण्डों का गिरना आदि विभिन्न समस्त बाह्य क्रियाओं की प्रेरक, संचालक, पालक व संहारक शक्ति **'भस्मी'** ही है। यह भस्मी ही पूर्णतया, सम्पूर्णतया पाँच महाभूतों का संगम करती है। इन पाँच महाभूतों की चमक-दमक व महत्ता इस भस्मी के कारण ही है। समुद्र के रत्न, पृथ्वी में विभिन्न मूल्यवान धातुएँ, आकाश के ग्रह नक्षत्रों की चमक व गतियाँ, अग्नि का तेज तथा वायु की विभिन्न गतियाँ इस भस्मी के कारण हैं। **अतः पंच-महाभूत और इनके विभिन्न अनुपातों में संगम से निर्मित, पालित यह जगत, शिव की अदृश्य शक्ति वैराग की प्रतिरूप भस्मी की वजह से शोभायमान है।**

इस चराचर जगत के समस्त प्राणियों में ईश्वर की जो अद्वितीय, विलक्षण और परम उत्कृष्ट रचना है, वह है—**'मानव-देह'**। पृथ्वी, जल, वायु, आकाश एवं अग्नि रूप पंच-महाभूतों के संगम से मानव-देह कैसे निर्मित हुई ? आज वैज्ञानिक युग है, किसी उत्कृष्टतम् वैज्ञानिक से कहा जाए, कि इन पाँच महाभूतों का संगम करो। करोड़ जन्म तक भी पाँच महाभूतों को किसी पात्र में डालकर हिलाते रहें, तो भी वे किसी मक्खी, मच्छर, चींटी तक का निर्माण नहीं कर सकते। विचारणीय विषय है, कि पाँच महाभूत, पंच-प्राणों से प्रकट तो हो गए, परन्तु इनका संगम कैसे हुआ और विभिन्न नामरूपात्मक सृष्टि का निर्माण कैसे हुआ? इन कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों तथा उत्कृष्टतम्, विलक्षणतम्, सुन्दरतम्, भव्यतम् मानव-देह जो पंच-महाभूतों का अद्वितीय संगम है, उसका कारण भी **वह अदृश्य भस्मी है,** जो शिव की निहित अति शक्ति **'वैराग'** की द्योतक है।

पंच-महाभूत पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश, क्रमशः समान, उदान, अपान, प्राण एवं व्यान, पाँच प्राणों का मायिक प्रकाट्य है। इन पाँचों महाभूतों के विभिन्न नाद हैं—पृथ्वी का 'थर-थर-थर', जल का 'कल-कल-कल', वायु का 'सर-सर-सर', अग्नि का 'हर-हर-हर' और आकाश का 'घर्र-घर्र-घर्र'। प्रश्न उठता है, कि मात्र अग्नि में हम पंच-महाभूतों और पंच-प्राण पुंज देवाधिदेव महादेव का समावेश मानकर

हवन आदि प्रकरणों द्वारा अथवा दीप-ज्योति के सम्मुख पूजा क्यों करते हैं? वस्तुतः अग्नि का नाद **'हर-हर-हर'** है। अतः **अग्नि देवाधिदेव महादेव के रूप में निराकार ब्रह्म का प्रतीक है। अग्नि शिव के अदृश्य पंच-प्राण-पुंज की ज्योति का दृश्यमान स्वरूप भी है। अग्नि ऊर्ध्वगामी है।** जल नीचे की ओर बहता है। अग्नि, शिव-स्वरूपा है—एक क्षण के लिए भी अग्नि **'हर-हर-हर'** से परे नहीं होती। कभी रात्रि के सन्नाटे व एकान्त में सद्गुरु-कृपा से यज्ञ-अग्नि की लपटों के सम्मुख ध्यान में एकाग्र होकर बैठने से स्वतः ही **'हर-हर-हर'** नाद भीतर ही भीतर गुंजरित होता आभासित होने लगता है। अग्नि पर एकाग्र करने के लिए भी ध्यान-अग्नि व ज्ञान-अग्नि चाहिए। हर-हर-हर नाद की अनुभूति होगी क्योंकि नाद कोई कानों से सुनाई देने वाली वस्तु नहीं है। नाद मात्र अनुभूति है, जो नाभि-प्रदेश से होती है। अग्नि हर-रूपा और हर-प्रिया है। अग्नि परम विशुद्ध है, कभी भी प्रदूषित नहीं होती, क्योंकि हर-हर-हर करती है। **अग्नि को ही शिव ने यह अधिकार दिया है, कि वह पंच-महाभूतों में निर्मित किसी भी वस्तु, प्राणी अथवा कुछ भी को स्वयं सहित पंच-महाभूतों में विलीन कर सकती है। तब उसमें अदृश्य रूप से समाहित शिव के वैराग की प्रतीक भस्मी का प्रकाट्य होता है।** इसलिए अग्नि पूजनीय है।

हिन्दु संस्कृति में विवाह-शादी में अग्नि के सम्मुख फेरे लिए जाते हैं एवं वर, वधु का पाणिग्रहण करता है। योगी जब कोई प्रतिज्ञा करता है, श्राप अथवा वरदान देता है तो अग्नि को साक्षी बनाता है। मृतक-देह का भी अग्नि-दहन किया जाता है। अग्नि पंच-महाभूतों की देह को पंच-महाभूतों में विलीन कर देती है। पंच-महाभूतों की देह जो शिव के पाँच प्राणों की प्रतिच्छाया है और जिनके देह रूप में संगम का कारण उसके वैराग की द्योतक भस्मी है। देह के बनने से पहले पंच-महाभूतों में भस्मी थी, देह के निर्माण के समय पंच-महाभूतों के संगम का कारण भस्मी थी, पालन के समय भस्मी थी और अन्ततः वह अदृश्य भस्मी प्रकट हो गई। भस्मी इसलिए प्रकट होती है, क्योंकि देह का अग्निदहन किया गया। **भस्मी हर-हर-हर**

महादेव का प्रमाण है। शिव का स्वरूप कल्याण है। भस्मी, शिव का प्रमाण है, फिर गंगा मैया उस भस्मी को आनन्द में स्वर्ग ले जाती है। भस्मी का स्वर्गारोहण हो जाता है, भस्मी पाप-पुण्य से रहित होती है।

पंच-महाभूतों द्वारा निर्मित समस्त चराचर सृष्टि, मायिक प्रपंच व इन्द्रजाल होते हुए भी शिव-शक्ति क्रीड़ा का प्रमाण है। इस प्रपंच में सर्वोत्कृष्ट, विलक्षणतम्, अति आनन्दमय व दिव्यतम् संरचना मानव-देह है। प्रभु ने मानव को सद्-चेतन व आनन्द, अपनी तीनों विभूतियों से विभूषित किया है। मानव-मन, ईश्वरीय आनन्द तथा मानव-बुद्धि, ईश्वरीय चेतना की द्योतक है। इनके समन्वय से कर्मेन्द्रियों द्वारा जो भी प्रकाट्य होता है, वह मात्र सार्थक नहीं बल्कि **'सद्'** होता है। इस प्रकार ईश्वर ने अपना सच्चिदानंद स्वरूप मानव को दे दिया, **मानों ईश्वर स्वयं मानव-देह धारण करके पृथ्वी पर खेलने के लिए उतरा हो।**

जो **'सद्'** से अवगत कराता है, वह सद्गुरु कहलाता है। सद्गुरु वह है, जहाँ से **'सद्'** का प्रकाट्य होता है। **'सद्'** आनन्द व चेतन का प्रकाट्य है। इसलिए सद्गुरु सच्चिदानंद का प्रतीक होता है। सद्गुरु को चेतन गुरु या आनन्द गुरु इसलिए नहीं कहा, क्योंकि चेतन और आनन्द निराकार व अव्यक्त हैं। सद्गुरु उस निराकार पार ब्रह्म परमेश्वर का साक्षात् व साकार अवतार है। चेतन व आनन्द का प्रकाट्य **'सद्'** के रूप में होता है। जो भी कर्म हमारे द्वारा **होता** है या हमारे लिए **होता** है, यदि वह निश्चित रूप से हमारे आनन्दमय मन और चेतनायुक्त बुद्धि के समन्वय से होता है, वह **'सद्'** होता है। जब मैं उसे अपना किया हुआ अथवा अपने कारण हुआ मान लेता हूँ, तो आनन्द व चेतनता के अभाव में मन-बुद्धि में समन्वय नहीं होता और वह कर्म **'असद्'** हो जाता है। **'सद्'** सबके लिए एक ही होता है, लेकिन **सत्य सबका पृथक्-पृथक् होता है।** जो कर्म अहंवश किया जाता है, उसमें कभी मन और बुद्धि का सामंजस्य नहीं हो सकता। जहाँ मन-बुद्धि का सामंजस्य न हो और कृत्य किए जाएँ, वे चाहे पुण्य ही क्यों न हों, आध्यात्मिक दृष्टि में वे पाप ही हैं। **सत्य और झूठ भौतिक शब्द हैं। 'सद्' आध्यात्मिक है।**

जहाँ हम होने वाले कृत्यों पर अपनी अहं की मोहर लगा देते हैं, तो सत्य और असत्य दोनों ही **'असद्'** हो जाते हैं।

हम नहीं जानते, कि जीवन और प्राण क्या हैं? हमारी देह में एक सूक्ष्म प्राण-तत्त्व है, जो प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, इन पाँच प्राणों का पुंज है। यदि कोई व्यक्ति प्यासा मर जाए, मरने के बाद उसके मुख में कितना ही जल डाला जाए उसके प्राण नहीं लौटेंगे। यदि अन्न, जल, वायु में प्राण हैं, तो भूख-प्यास और हवा की कमी से मरने वालों को ये प्राण क्यों नहीं देते ? हमारे पास जीवन-रक्षक औषधियाँ हैं, लेकिन वे मृत व्यक्ति को ज़िन्दा नहीं कर सकतीं। अतः यह प्राण-शक्ति ही पंच-महाभूतों की सृष्टि में समस्त क्रियान्वयन का कारण है।

'नशा शराब में होता तो नाचती बोतल' शराब में नशा मेरी इस चेतन प्राण-शक्ति का है। एक, सूक्ष्म प्राण शक्ति है और दूसरी, जहाँ से इस प्राण-शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। वह सूक्ष्मतर प्राण-शक्ति, शिव की निहित अतिशक्ति वैराग है। **वह चेतन भस्मी अथवा जीवात्मा है। वह सूक्ष्मतर निहित शक्ति ही 'मैं' है। यह 'मैं' देह नहीं है।** यह देह को संचालित, प्रतिपालित करने वाली शक्ति है। देह मात्रा है और **'मैं'** मात्र है। देह हमें केवल इसलिए मिली है, कि मैं जान जाऊँ कि **'मैं' मात्र हूँ। 'मैं'** किसी से बँधा नहीं है और उससे सब बँधे हैं। **'मैं'** ही है, जो अन्न, जल, वायु आदि को प्राण देता है। यह सूक्ष्मतर प्राण-शक्ति ही आकर्षण व संकर्षण शक्ति है। इस **'मैं'** का स्वरूप है–**'भस्मी',** जो समान है। सारे ब्रह्माण्ड के सामान अथवा मात्रा की शक्ति–**'मात्र'** है। यह निहित शक्ति वैराग अथवा भस्मी है। अदृश्य भस्मी पंच-महाभूतों की सृष्टि में मात्रा से प्रकट होकर भस्मी **'मात्र'** रह गई। भौतिक जगत में हम चाहे कितना भी विस्तार कर लें, मात्रा अथवा माया के अम्बार लगा लें, लेकिन अन्ततः देह की भस्मी **'मात्र'** रह जाती है। जो शक्ति इस समस्त मात्रा अथवा माया का संचालन करती है, वह यह भस्मी शक्ति **'मात्र'** है।

'मात्रा', माया है और **'मात्र' 'मात् शक्ति' है। मात्रा Quantity है**

और मात् Quality है। यह माया भी स्वयं में असीम है, अनन्त है। युगों-युगान्तरों से हम इस मात्रा अथवा माया के इन्द्रजाल में ही भटक रहे हैं। विस्तार चाहते हैं, और-और चाहते हैं। मात्रा का कोई अन्त नहीं है, लेकिन इसमें अपनी शक्ति नहीं है। मात्रा को, मात्र प्रतिबद्ध करके मूल्यांकन करता है। कोई भी रकम बिना only के स्वीकृत नहीं होती। जैसे (Ten Thousand only) यदि मात्रा के साथ only नहीं लगाएँगे, तो मात्रा आपको Lonely कर देगी। सन्तान का, पद-प्रतिष्ठा का, जन-बल आदि जो भी बल आपके पास है, उसमें आप अकेले पड़ जाएँगे। प्रत्येक मात्रा के साथ मात्र एक ही है। **मात्रा अनेक हैं, मात्र एक ही है।** जैसे **'मैं' एक है और व्यक्ति असंख्य हैं। मात्रा की एक अवस्था है 'मात्र' और मात्र किसी एक मात्रा का नहीं है। सबका समान है। मात्र निहित शक्ति है और मात्रा प्रकाट्य है।** पंच-महाभूतों में शिव के पंच-प्राणों की सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति आदि विभूतियाँ प्रकट हैं—यह मात्रा उसी को भोग और आनन्द देगी, जिसके पास वैराग रूप में यह **'मात्र'** शक्ति है। मनुष्य जन्म इसलिए मिला है कि हम मात्र को पा लें। जब इस मात्र को पा लेंगे तो समस्त मात्रा हमारे चरणों में आ जाएगी।

मानव-देह में भी ईश्वर ने अपनी ये छः विभूतियाँ—सौन्दर्य (उदान प्राण व जल तत्त्व) , ज्ञान (व्यान प्राण व आकाश तत्त्व), शक्ति (प्राण प्राण व अग्नि तत्त्व), ऐश्वर्य (समान प्राण व पृथ्वी तत्त्व), ख्याति (अपान प्राण व वायु तत्त्व) और विभूत्यातीत विभूति वैराग (अदृश्य भस्मी अथवा तत्त्वातीत तत्त्व) ठसाठस भरी हैं। **जब हम वैराग को उपेक्षित कर विभिन्न शक्तियों, धन, पद, ख्याति आदि के लिए भागते हैं, तो उस दौड़-भाग में यह निहित सूक्ष्मतर प्राण-शक्ति वैराग या 'भस्मी' क्षीण हो जाती है। उसका प्रादुर्भाव, प्रकाट्य व समाहन स्थिरता में है।** जितनी भी संसार महानाट्यशाला में क्रीड़ा हो रही है, उसके दो पक्ष हैं—मेरी देह और उस पर आधारित जगत। हमारे लिए जैसा प्रकाट्य होना होता है, मन में वैसे ही भाव व बुद्धि में वैसे ही विचार आने शुरू हो जाते हैं। संसार महानाट्यशाला का

स्वरूप हमारे लिए वैसा ही हो जाता है। नज़र, नज़रिया और नज़ारा तीनों ईश्वरीय होते हैं। तीनों ईश्वरीय हैं, लेकिन कभी-कभी हमारे लिए उसमें आनन्द इसलिए नहीं रहता, क्योंकि हम ईश्वर-विमुख हो जाते हैं। हम यह नहीं जानते और मानते, कि ये ईश्वरीय हैं। **मेरी अपनी दृष्टि के अनुसार मैं जब नज़ारे को देखता हूँ तो मेरे लिए वह आनन्दमय नहीं रहता।** कुछ भी ऐसा नहीं है, जो ईश्वरीय न हो। जिस समय मैं अपनी मोहर लगा देता हूँ, उसी समय यह खेल ही झमेल बन जाता है। संसार का मेला ही झमेला बन जाता है। यह कृत्रिम जीवन है, जिसका उत्तरदायित्व मेरी अहं बुद्धि पर है। पंच-महाभूतों की सृष्टि में हर नज़ारा आनन्द में रचा गया है, क्योंकि रचने वाला **स्रष्टा** आनन्द के अतिरिक्त कुछ नहीं है। वह सच्चिदानंद है उसका निर्माण, पालन व संहार सब आनन्दमय है।

जीवात्मा दृष्टा है और ईश्वर का अंश है। इसलिए वह भी सच्चिदानंद है। उसी की तरह अदृश्य और निराकार है। लेकिन देह रूप में **'मैं'** भ्रम में हूँ, कि मैं दृष्टा हूँ। यद्यपि जब नींद आती है, तो न केवल मेरी देह, बल्कि उस पर आधारित सारा जगत भी लय हो जाता है। जब नींद खुलती है, तो **'मैं**' (देह) और मुझ पर आधारित समस्त जगत तुरन्त प्रकट हो जाता है। नींद के साथ, मृत्यु, मूर्च्छा, विस्मृति में भी ऐसा ही होता है। नींद में स्वप्न आने पर **'मैं'** कहीं का कहीं चला जाता हूँ, यद्यपि जाग्रत होने पर मैं जानता हूँ, कि मैं वह स्वप्न वाला व्यक्ति नहीं हूँ, क्योंकि मैं वहीं का वहीं हूँ, कहीं आया गया नहीं। फिर भी मैं स्वयं को वह देह मानकर स्वप्न सुनाता हूँ, जो सम्पूर्ण स्वप्न सृष्टि की आधार थी। स्वप्न का दृश्य, स्वप्न देखते समय सत्य था। उस समय वह मेरे लिए स्वप्न नहीं था। जागकर मैं कहता हूँ, मैंने सपना देखा। मुझे उस स्वप्न के दृश्य की स्मृति है और मैं यह नहीं जानना चाहता, कि स्वप्न के उस दृश्य का दृष्टा **'मैं'** कौन हूँ? स्मृति उस दृष्टा की है। यदि दृष्टा नहीं होगा तो दृश्य का वर्णन कैसे करेगा। हालाँकि देह रूप में वह व्यक्ति स्वप्न के उस दृश्य से निकलते ही उस समस्त समष्टि सहित नहीं रहा, वह दृश्य समाप्त हो गया। **लेकिन दृष्टा है। वह दृष्टा देह रूप में**

मेरा वो तथाकथित जाग्रत स्वरूप भी नहीं है, जो उस दृश्य का वर्णन कर रहा है, क्योंकि उसने तो स्वप्न देखा ही नहीं। वह तो उसी जगह से उठा, जहाँ सोया था। लेकिन उस स्वप्न वाले दृश्य का वर्णन हो रहा है। इसका अर्थ है, कि दृष्टा है। निर्णय यह करना है, कि दृष्टा कौन है?

स्वप्न वाली देह दृष्टा नहीं हो सकती, क्योंकि वह स्वप्न के दृश्य के साथ ही चली गई। यह तथाकथित जाग्रत देह जो कह रही है, मैंने स्वप्न देखा, वह दृष्टा नहीं हो सकती, क्योंकि उसने स्वप्न देखा ही नहीं। **ये दोनों ही देह दृष्टा नहीं हैं।** यह दृष्टा निराकार है, जो कहीं गया आया नहीं। स्मृति इस दृष्टा की है। वह अब भी है और तब भी था। स्वप्न देखने से पहले सुषुप्तावस्था में भी वह था। स्वप्न के दौरान भी वह था और तथाकथित जागने पर भी वह है। देह वह नहीं है, लेकिन दृष्टा वही है। जो एक स्वप्न का वर्णन दूसरे स्वप्न में कर रहा है। देह, काल से बंधी है, लेकिन यह दृष्टा अकाल है व स्थिर है:–

''राम की दुहाई रे बाबा, राम की दुहाई,
न कित आएबो न कित जाएबो।''

मैं देह रूप में सुषुप्त था। मेरी आँखें बन्द थीं, लेकिन दृश्य देखा। टाँगे स्थिर थीं, लेकिन चलीं, बाजू हिले नहीं, बाजुओं ने काम किया, जुबान चली नहीं लेकिन मैं बोला। एक देह से अनेक देह बना। स्वप्न की वे अन्य देहें कौन थीं, कहाँ थीं, उनके जन्मदिन कौन से थे, किस माँ से पैदा हुए थे? उनमें कोई मेरे बन्धु, दोस्त, दुश्मन बने। **'जगत'** को इसलिए हमारे शास्त्रकारों ने **'वंध्या-सुत'** (बांझ का पुत्र) कहा है। इस **'असद्'** का **'सद्'** है **'दृष्टा'।** कोई भी **'असद्'** बिना **'सद्'** के नहीं हो सकता। **'असद्'** में समस्त भौतिक सत्य-असत्य आ जाता है। **यह सापेक्षिक है।** सत्य और असत्य दोनों **का सद्** (ईश्वर) एक ही है। लेकिन हम इतने नकारात्मक हो चुके हैं, कि **'असद्'** को ही **'सद्'** मान बैठे हैं। हम भ्रम से भ्रमित हो गए।

मैं भ्रमित होकर आनन्द में उस दृश्य के साथ तद्‌रूप हुआ था। यह तद्‌रूपता द्वैत में है। जैसे हम किसी बच्चे के साथ खेलते समय उसी के

अनुरूप व्यवहार करते हैं। दुर्भाग्यवश हमने जगत के माया-जाल रूपी भ्रम को भ्रमित होकर नहीं देखा, बल्कि हम स्वयं भ्रम से भ्रमित हो गए। भ्रम से हम इतने भ्रमित हुए, कि स्वप्न की देह को अपना स्वरूप मानकर उसके भी शुभ-अशुभ की जानकारी चाहते हैं। हम दृश्यों में उलझ गए। देह को अपना स्वरूप मान बैठे। मैंने उसे स्वप्न इसलिए माना क्योंकि मैंने स्वयं को स्वप्न वाली देह मान लिया। **'स्रष्टा' 'सद्' है, सच्चिदानंद है**। **दृश्य भी उसकी संरचना होने के कारण 'सद्' है और 'दृष्टा' भी 'सद्' है।** दृष्टा, देह नहीं है। देह को अपना स्वरूप मानने के कारण मेरी नज़र व नज़रिया बिगड़ गया। कल वाली देह **'मैं'** आज नहीं हूँ। उस समय वह **सद्** थी, आज यह **सद्** है। यह मिथ्यात्व का **सद्** है। दृश्य ईश्वर द्वारा निर्मित है और दृष्टा भी उसी का अंश है। देह **'सद्'** नहीं है, क्योंकि हर दृश्य के साथ बदलती है। मेरी नज़र और नज़रिया देह को **'मैं'** मानने के कारण असद् हो जाता है। किसी भी दृश्य का वर्णन दृष्टा करता है, वह दृश्य जो ईश्वर द्वारा रचा गया है और दृष्टा भी उसी ईश्वर का अंश है:—

''ईश्वर-अंश जीव अविनाशी, चेतन अमल सहज सुखराशि।''

प्रश्न उठता है, कि फिर आनन्द क्यों नहीं आया? परमात्मा ने एक दृश्य रचा। उस दृश्य में मेरा चीखना, भागना, डरना, क्रोध करना, गिरना सब कुछ आनन्द में था। **आनन्द का सुख और दुःख दोनों से सीधा सम्बन्ध है।** सुख और दुःख दोनों के दृश्य आने-जाने वाले हैं, पर इनका दृष्टा और स्रष्टा स्वयं में आनन्दमय हैं। अतः सभी दृश्य आनन्दमय हैं। **देह के साथ तद्रूपता के कारण जीवात्मा जीव बन गया और अपने अखण्ड आनन्दमय पद से अपदस्थ हो गया।** यदि दृश्यों में वैविध्य और विरोधाभासात्मक स्थितियाँ नहीं होंगी तो एक ही जैसा खेल नीरस लगने लगेगा। यदि रोज़ बादल ही छाए रहें अथवा धूप ही निकली रहे, तो जीवन में एकरसता हो जाती है। जिस प्रकार प्रकृति मेरे आनन्द के लिए विविध परिधान परिवर्तित करती है, उसी प्रकार नामरूपात्मक सृष्टि में रोज़ के दृश्यों में बहुमुखी वैविध्य मेरे आनन्द के लिए होता है। **दृष्टा एक ही है, जो**

स्रष्टा की भाँति कहीं आता-जाता नहीं। हर दृश्य एक खेल है, जिसके दो पक्ष होते हैं—देह और देह पर आधारित जगत। जब दृश्य बदलता है, तो दोनों नहीं रहते, पर दृष्टा वही रहता है।

सृष्टि साकार है, मात्रात्मक है। स्रष्टा और दृष्टा दोनों निराकार हैं। भ्रम वहाँ हुआ जहाँ दृष्टा ने स्वयं को साकार देह मान लिया। दृष्टा की स्मृति को **'मैं'** देह की स्मृति मान ली। अरे ! स्वप्न देखते समय तू सोया हुआ था, तेरी आँखें बन्द थीं, तो देह दृष्टा कैसे हो सकती है? लेकिन तुझे स्वप्न की स्मृति है, जागने पर तुझे यह भी पूर्ण ज्ञान है, कि स्वप्न वाली देह तू नहीं है, क्योंकि उसके पीछे शेर पड़ गया था। वह गिर पड़ा था, तो पैर में चोट लगी थी, तू ठीक-ठाक है। इसलिए स्मृति दृष्टा की है और दृष्टा निराकार है।

शिव जब यह पंच-महाभूतों में पंच-प्राणों की अपनी सौन्दर्य, ज्ञान आदि पंच-विभूतियों का मायिक खेल प्रकट करता है, तो मात्र वैराग में उसका आनन्द लेता है। जीवात्मा मात्र वैराग है। उसका स्वरूप है—भस्मी। क्रीड़ा वैराग में और पंच-प्राणों की शक्ति में हुई और पंच-महाभूतों में इनका प्रकाट्य हुआ। **लेकिन दृष्टा बनने के समय शिव, जीवात्मा रूप में मात्र वैराग बनकर उसका आनन्द लेता है। इसलिए दृष्टा जीवात्मा को ईश्वर-अंश कहा गया है,** पंच-प्राण, पंच-महाभूतों में प्रकट हुए और वैराग, भस्मी रूप में अप्रकट है। जीवात्मा चेतन अमल सहज सुखराशि है, वह उस प्रकाट्य का आनन्द लेता है। **जीवात्मा ही परमात्मा है, लेकिन उसमें प्रकाट्य की शक्ति होते हुए भी वह अशक्त व असमर्थ रहता है।**

जब शिव प्रकाट्य का आनन्द लेता है, तो वह जीवात्मा है। तब वह न कुछ करता है और न किए हुए में हस्तक्षेप करता है। क्रीड़ा भी एक ही मानस में हो रही है, परमात्मा भी वही है और जीवात्मा भी वही है।

स्वप्न एक ही मानस में चलता है और वहीं लीन हो जाता है। किसी वस्तु का भ्रम होना और उस भ्रम का क्रियान्वयन होना, दोनों के लिए शक्ति अपेक्षित है। यह मात् या मात्र शक्ति (वैराग—अदृश्य भस्मी) सबके भीतर

है। जब इसका अनाच्छादन होता है, तो मात्रा का महत्त्व ही समाप्त हो जाता है। शिव के पंच-प्राणों की ज्योति का आधार अदृश्य वैराग है और क्रीड़ा में पंच-महाभूतों का प्राकाट्य होने पर वह वैराग अदृश्य भस्मी के रूप में समाहित हो जाता है। यही अदृश्य भस्मी समस्त सृष्टि का पंच-महाभूतों द्वारा निर्माण, पालन एवं संहार करती है और अन्ततः (संहार के उपरान्त) दृश्यमान भस्मी के रूप में प्रकट हो जाती है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(2अपैल, 2006)

स्रष्टा, सृष्टि एवं दृष्टा

(भाग 2)

दुनिया एक मेला है परन्तु मेरे लिए यह मेला ही झमेला बन गया। मैं मानव-देह प्राप्त करके भी सम्पूर्ण प्राणी जगत में सबसे अधिक दुःखी, त्रसित, भयभीत व तनावित हूँ। इसका क्या कारण है? **मुझे इसी जीवन में अभी, इसी समय इस 'सद्' से** अवगत होना आवश्यक है। काल का प्रवाह अबाध बह रहा है, लेकिन मेरे लिए कभी भी थम सकता है। मुझे अपने अगले श्वास की भी कोई सुनिश्चितता नहीं है। हर दिन मेरे जीवन-काल **में** अन्तिम दिन तो होता ही है, वही जीवन-काल **का** अन्तिम दिन भी हो सकता है। अतः आज का दिन ही मेरे लिए महत्त्वपूर्ण है। प्रत्येक दिन प्रत्येक के लिए पृथक्-पृथक् है और हर दिन मेरे लिए जैसा है, वैसा किसी के लिए नहीं होता। अतः जब स्रष्टा ने प्रत्येक दिन मात्र मेरे लिए ही विशेष रूप से रचा है, तो यह दुनिया का मेला मेरे लिए झमेला कैसे और क्यों बन गया? यह मेला शुरू कहाँ से हुआ, मैं कौन हूँ, यहाँ क्यों लाया गया हूँ? निश्चय ही ईश्वर ने मुझे दुःखी करने के लिए तो इस सृष्टि की रचना नहीं की होगी। **'स्रष्टा, सृष्टि और दृष्टा—भाग 1'** प्रवचन में मैंने सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में शिव-शक्ति-क्रीड़ा की कुछ झलकियाँ दी थीं।

शिव पंच-प्राणों की अखण्ड व अदृश्य ज्योति है, जिसका **आधार,** अदृश्य **वैराग है।** उस आधार से उस ज्योति की अविरलता बनी रहती है। शिव की ज्योति अखण्ड, असीम, अथाह, अविरल और अकाट्य है। क्रीड़ा में उसके पंच-प्राणों का मायिक प्रकाट्य पंच-महाभूतों के रूप में दृश्यमान

होता है। **पंच-प्राण मायिक नहीं है लेकिन इनका प्रकाट्य पंच-महाभूतों में मायिक है।** शिव का वैराग इन पंच-महाभूतों में भस्मी के रूप में अदृश्य रूप से समाहित है। **इन सहज जड़ पंच-महाभूतों को वैराग रूपी भस्मी संचालित करती है।** प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान क्रमशः अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल और आकाश, पंच-महाभूतों में प्रकट होते हैं। **शिव का वैराग विभूत्यातीत विभूति है और भस्मी तत्त्वातीत तत्त्व है।** अतः शिव का शीर्ष है, पंच-प्राण और चरण हैं, वैराग रूप में **'भस्मी'।**

जीवात्मा तो परमात्मा का ही एकमात्र मानस-पुत्र है। वह उसी की भाँति सच्चिदानंद, निराकार व अकाल है। उसके स्वरूप का वर्णन मैं अपने **'जीव-ज्योति'** शीर्षक प्रवचन में विस्तार से कर चुका हूँ। एक टिमटिमाती हुई जोत, जिसका आधार है, चुटकी भर **भस्मी**। अतः जैसा बाप, वैसा बेटा। जिस प्रकार शिव की पंच-प्राणों की ज्योति और आधार वैराग अदृश्य है, उसी प्रकार जीवात्मा की टिमटिमाती हुई पंच-प्राणों की 'लौ' और आधार चुटकी भर भस्मी भी अदृश्य है। इस जीवात्मा को परमात्मा पंच-महाभूतों से निर्मित मानव-देह देकर खिलाता है। **जहाँ जीवात्मा भ्रमवश स्वयं को इस पंच-महाभूतों की देह से पहचानता है, वहाँ इसका घोर पतन हो जाता है। यह विशुद्ध जीवात्मा से क्षुद्र सा जीव बन जाता है।** अपने ईश्वरीय स्वरूप पंच-प्राणों के ज्योति-पुंज से कट जाता है, जिससे टिमटिमाती लौ प्रकट हुई थी। वह वैराग-रूप में अपनी भस्मी को भी भूल जाता है, जिसमें देह ने निश्चित रूप से विलीन होना है। **इस प्रकार बेसिर और बिना पैरों के हुआ जीव जन्म-जन्मान्तरों में भटकने लगता है।**

मेरी **'मैं'** जो विशुद्ध जीवात्मा है वह पंच-महाभूतों की देह के साथ तद्रूप हो गई, कि मैं देह हूँ। देह की भस्मी अवश्य बनेगी और जब वह भस्मी बनेगी तब मैं नहीं रहूँगा। भस्मी वह समान तत्त्वातीत तत्त्व है जो सबका एक ही है। जबकि हमारी सबकी पंच-महाभूतों की देहें पृथक्-पृथक् हैं। **इसीलिए भस्मी मेरी समष्टि है और देह मेरी व्यष्टि है।** मानव-देह, पंच-प्राणों का वैराग द्वारा पंच-महाभूतों के संगम रूप में प्रकाट्य था। शिव ने

वैराग से वैराग द्वारा क्रीड़ा की, जिसे शिव-शक्ति क्रीड़ा कहा जाता है। यह क्रीड़ा आनन्द में होती है क्योंकि शिव सच्चिदानंद है। आनन्द में, वह वैराग पाँचों महाभूतों में अदृश्य भस्मी के रूप में समाहित हो गया। यह छटा तत्त्वातीत तत्त्व (भस्मी) अदृश्य था। जब भी **'मैं'** ने स्वयं को देखा, देह के साथ पाया। जब **'मैं'** होता हूँ तो यह देह होती है। लेकिन जब यह होती है, तब मैं होता ही हूँ यह आवश्यक नहीं है। मैं भ्रमित इसलिए हुआ कि जब भी मैं होता हूँ तो देह होती है। **लेकिन देह होती है तो 'मैं' हो भी सकता हूँ, नहीं भी हो सकता। क्योंकि जब मैं सोया होता हूँ तो 'मैं' यह देह नहीं होता। 'मैं' होता हूँ लेकिन मैं क्या होता हूँ 'मैं' नहीं जानता।**

देह के नाम-रूप की अवचेतना में मैंने पंच-तत्त्वों की देह (जिसमें वैराग रूपी भस्मी अदृश्य थी) पर कब्ज़ा कर लिया, कि 'मैं यह देह हूँ'। तो **'मैं'** पाँच प्राणों के विमुख हो गया। पंच-तत्त्वों की इस देह में पंच-प्राणों की विभूतियाँ ठसाठस भरी थीं और शिव के वैराग की प्रतीक भस्मी अदृश्य थी। **'मैं'** देहाध्यास में उस वैराग को भूलकर सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य व ख्याति पाँच विभूतियों के लिए भाग-दौड़ करने लगा। तो मैं एक ओर पाँच प्राणों की ज्योति से वंचित हो गया और दूसरी ओर वैराग से वंचित हो गया। **मैं सिर-पैर के होते हुए भी सिर-पैर विहीन सा हो गया।** इसलिए यह मेला मेरे लिए झमेला बन गया। इसी में पाप-पुण्य, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख, प्रारब्ध न जाने क्या-क्या बन गया। मैं आया था तमाशा देखने, स्वयं तमाशा बन गया। क्योंकि मैंने पंच-महाभूतों की देह को ही अपना स्वरूप मान लिया।

परमात्मा और जीवात्मा दोनों निराकार हैं, सच्चिदानंद हैं। खिलाने वाला और खेलने वाला दोनों निराकार हैं। परमात्मा खिला रहा है और जीवात्मा द्वैत में खेल रहा है। खेल पंच-महाभूतों में है जो सहज जड़ व निराकार हैं तथा इनके द्वारा निर्मित सारी सृष्टि साकार है। निराकार सच्चिदानंद ईश्वर का जो सीधा प्रतिनिधित्व इस धरा पर है, वह पंच-महाभूत हैं। ये पंच-प्राणों की प्रतिच्छाया हैं। उनमें ईश्वर-इच्छा में जो संगम होता है, वह साकार और चेतन है। इनका संगम मानव-देह स्वयं ईश्वर का जीवात्मा

रूप में प्रतिनिधित्व करती है। वह सच्चिदानंद का प्रकाट्य है और उसकी छः विभूतियों से ओत-प्रोत है। निराकार खेल रहा है और निराकार को ही खिला रहा है, लेकिन यह खेल साकार है।

यह खेल बड़ा रहस्यमय और विचित्र है। इसका पल्ले पड़ना विशेष ईश्वरीय-कृपा द्वारा ही सम्भव है। क्योंकि साकार खेल द्वैत में है। प्रत्येक खेल में चाहे प्रेम का हो अथवा घृणा का हो, चाहे लेना हो, चाहे देना हो, चाहे मिलना हो चाहे बिछुड़ना हो, उसमें कम से कम दो पक्षों का होना आवश्यक है। क्या कोई कहता है मैंने स्वयं से मिलना है या मैं अपने से बिछुड़ गया। मैंने अपने से कुछ लेना है या देना है। **बात करने के लिए, प्रेम करने के लिए, घृणा करने के लिए, उठने-बैठने के लिए किसी भी खेल में कम से कम दो पक्ष होने चाहिएँ।** एक खिला रहा है और एक खेल रहा है। दोनों निराकार हैं, दोनों चेतन, अमल, सहज सुख-राशि हैं। खेल भी आनन्द में है क्योंकि खेलने वाला और खिलाने वाला दोनों सच्चिदानंद हैं। कोई भी खेल द्वैत में होते हुए भी दुःखी-सुखी होने के लिए तो नहीं होता। आनन्द की निर्मिति, पालन व संहार सब कुछ आनन्द में ही होता है।

मेरे लिए जो परमात्मा ने यह जगत का खेल रचाया है वह किस-किस में चल रहा है, यह जानना आवश्यक है। हम अज्ञानपूर्वक जीवन यापन नहीं कर सकते, क्योंकि हमें अति कृपावश मानव-देह मिली है। जो खेल मेरे लिए मेरे पिता देवाधिदेव महादेव ने रचाया है उसमें मेरी भूमिका क्या है? सारा खेल मुझे दी गई पंच-महाभूतों की देह तथा इस देह पर आधारित समस्त जगत के बीच चलता है। मैं नाम-रूप की देह हूँ, यह **'मैं'** की चेतना नहीं, अवचेतना है। 'मैं देह हूँ' यह भावना आते ही **'मैं'** जीवात्मा से जीव बन गया और मेरी चेतना (Awareness), अवचेतना (Consciousness), बन गई। वह देह जिसका जन्म होते मैंने देखा नहीं था, उस देह के साथ तद्‌रूप होकर **'मैं'** अजर, अमर जीवात्मा से जन्मने-मरने वाला जीव बनकर भटकने लगा। चल रहा था खेल और **'मैं'** ने उसे झमेल बना दिया। मेरे पिता ने मुझे एक पंच-महाभूतों की देह देकर संसार रूपी मेला देखने भेजा था और **'मैं'** ने

उस पर कब्ज़ा करके उसका झमेला बना दिया। खेल मेरे और सारे जगत के बीच था जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण मेरी एक मिनट की झपकी से मिल जाता है जब न देह रूप से **'मैं'** रहता हूँ और न सारा जगत ही रहता है। सारा खेल समाप्त हो जाता है। मेरी एक झपकी दोनों पक्षों का लय कर देती है। उस वक्त मेरे लिए न खेल रहता है, न झमेल रहता है।

खेल का सौन्दर्य यह है, कि खेल में दो पक्ष हैं। एक मेरे नाम-रूप की देह की अवचेतना, दूसरा सम्पूर्ण जगत। लेकिन दोनों का आधार मेरा चेतन, निराकार, जीवात्मा स्वरूप है। जब मैं उसमें स्थित होता हूँ तो देह रूप में मैं भी नहीं रहता और इस दैहिक अवचेतना पर आधारित जगत भी नहीं रहता। वह है मेरा विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप–***''निराकार रूपं शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''*** जब मुझे अपनी देह के नाम-रूप की प्रतीति नहीं रहती तो सारा खेल समाप्त हो जाता है। अतः सारा जगत मेरी एक देह के नाम-रूप की अवचेतना पर आधारित है। **नाम-रूप की देह नहीं, बल्कि उसकी Consciousness, कि 'मैं यह देह हूँ।' इस पर सारे जगत का खेल दृश्यमान है।**

जब मुझे अपनी एक देह के नाम-रूप की प्रतीति होती है तो खेल शुरू हो जाता है। चाहे कैसा भी हो, कहीं भी हो। The moment I recognise myself in a particular name and form in my consciousness the game starts and as soon as this recognition goes away the game stops. **क्या इसका अर्थ है, कि इसका संचालन मेरे हाथ में है ? नहीं !** खेल प्रारम्भ और अन्त करने वाला कोई और है। जो खेल रहा है और खिला रहा है यह सारी बात उनमें चल रही है, क्योंकि झपकी लेना मेरे हाथ में नहीं है। **अगर ईश्वर चाहेगा तो झपकी आएगी, झपकी ली नहीं जाएगी।** सारा रिमोट उसके हाथ में है, लेकिन जीवात्मा को भ्रम होता है, कि मेरी झपकी से खेल समाप्त होता है, क्योंकि वह देह के साथ तद्रूप हो जाती है।

किसी भी खेल में हार-जीत का महत्त्व नहीं होता, खेल तो खेल के लिए होता है। **खेल का अर्थ केवल आनन्द है।** ले कर यहाँ कोई कुछ नहीं आया और यहाँ से लेकर कोई कुछ भी नहीं जाता। वह देह भी यहीं रह

जाती है जो खेल का आधार थी, जिसके माध्यम से खेल रहे थे। अतः यदि कुछ करना है तो आनन्द में करिए। **यदि आनन्द नहीं आता तो इसका अर्थ है, हम स्वयं अपना खेल चला रहे हैं अथवा चलाना चाहते हैं। यदि वह चला रहा है और हम आश्वस्त हैं, कि प्रभु मुझे ऐसे ही खिलाना चाहते हैं तो आनन्द अवश्य आएगा।**

व्यष्टि और समष्टि दोनों में गहरा सम्बन्ध होता है। एक ही दिन हम सबके लिए अलग-अलग होता है और वह दिन मेरे लिए पृथक् है। मैं और मेरा जगत दोनों में ही प्रत्येक दिन का खेल होता है। यदि मैं यह कहूँ कि यह दिन मात्र मेरे लिए है तो इसमें क्या अतिशयोक्ति है। जब मेरी नाम-रूप की प्रतीति समाप्त होती है तो सारा खेल और मैं दोनों नहीं रहते। किसी भी प्रकार से और सब प्रकार से नाम-रूप की अवचेतना हटा दो तो सारा खेल समाप्त हो जाएगा। तो खेल का मेरे लिए क्या अर्थ था? **मुझे इस झमेल को खेल में बदलने के लिए केवल अपनी awareness में देह की Consciousness समाप्त करनी होगी।** लेकिन हम दुनिया के इस खेल में बहुत गम्भीरता से तन्मय होकर लिप्त हो जाते हैं। हम भूल जाते हैं कि खेल निराकार का है, निराकार के लिए है। खेलने वाला और खिलाने वाला दोनों ही निराकार हैं। खेल साकार में है और द्वैत में है। मैं और मेरे जगत के बीच है। दोनों का खेल तब समाप्त होगा जब मैं अपने नाम-रूप की प्रतीति समाप्त करूँगा। **रात को सोते हुए भी जब अपने नाम-रूप की अवचेतना हमें होगी तो सपना आ जाएगा। यह नाम-रूप की अवचेतना ही हमें थका रही है। पापी-पुण्यी बना रही है। हमारी समष्टि हमारी व्यष्टि पर इतनी आधारित है, कि हम स्वयं को यदि उसमें से निकाल दें तो उसी समय मेरे सहित मेरा सारा जगत समाप्त हो जाता है।**

ईश्वर ने जीवात्मा को देह रूप में एक प्रतिनिधित्व दिया और उस देह पर आधारित जगत दिया। जो वस्तुतः देह पर आधारित नहीं था बल्कि **उस देह की अवचेतना पर आधारित था।** देह जैसे एक व्यष्टि के रूप में थी, वैसे ही जगत समष्टि के रूप में था। जीवात्मा इसलिए फँसा क्योंकि इसका

जो जगत खड़ा हुआ वह जीवात्मा को दी हुई देह पर आधारित न होकर उस देह के नाम-रूप की प्रतीति या Consciousness पर आधारित होता है। यदि जीवात्मा अपने नाम-रूप की अवचेतना में न हो तो जगत का खेल चलता ही नहीं, जैसेकि प्रगाढ़ निद्रा, विस्मृति, मूर्च्छा, मृत्यु, तुरिया समाधि में नहीं चलता। अब खेल तो खेल है, खेल का महात्म्य ही क्या? तो जीवात्मा को पंच-महाभूतों से निर्मित मानव-देह मिलती है, उसे यह भ्रम हो जाता है, कि मैं यह देह हूँ। इस भ्रम का निश्चित कारण था, क्योंकि जब भी इसने तथाकथित होश में स्वयं को देखा तो देह के साथ पाया। **जब मैं अपनी Consciousness में होता हूँ तो देह होती है।** जब एक नाम-रूप की वह देह होती है तो समस्त नाम-रूपात्मक जगत खड़ा हो जाता है। बहुत सारी देहें हमारे सम्मुख आ जाती हैं। यदि एक देह व्यष्टि रूप में होती है तो समष्टि भी होती है। नहीं तो व्यष्टि-समष्टि दोनों नहीं होते। इसीलिए जीवात्मा स्वयं को देह मानकर भ्रमित हो गया। **अपनी निराकार सत्ता तथा अपनी चेतनता का (Awareness) इसका ज्ञान आच्छादित हो गया। जब हम नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होंगे तो निराकार होंगे। तब खेल का साकारपन और द्वैत दोनों समाप्त हो जाएँगे।** सारी खेल की रिकार्डिंग निराकार में होती है। सारे खेल समाप्त निराकार में होता है।

दुर्भाग्यवश, मायावश, भ्रम व अज्ञानवश मैंने समझा कि **'मैं'** देह हूँ। यदि मैं देह हूँ तो देह पर आधारित जगत भी तो मैं ही हुआ। क्योंकि दोनों एक साथ प्रकट होते हैं और एक साथ लय हो जाते हैं। इसे बनाने-मिटाने वाला ईश्वर है। रोज़ मेरे लिए नई देह बनती है, पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि व आकाश की विविध विधाएँ व सौन्दर्यमयी कलाएँ मेरे लिए प्रकट होती हैं। प्रत्येक दिन मात्र मेरे लिए ही डिज़ाइन होता है। हर दिन मेरे लिए पृथक् होता है और मात्र मेरे लिए ही होता है। वह मेरे जीवन-काल **में** अन्तिम दिन तो होता ही है तथा वह मेरे जीवन-काल **का** अन्तिम दिन भी हो सकता है। ईश्वर ने मुझे कितनी रहमतों से नवाज़ा है। माया की 84 लाख विभिन्न विधाएँ मेरे लिए डिज़ाइन की हैं। जब **'मैं'** अपने विशुद्ध जीवात्मा स्वरूप में

स्थित होकर देह व देह पर आधारित जगत को अपने से पृथक् करके देखता हूँ तब मैं माया की विविध तथा बहुमुखी व बहुआयामी विधाओं का आनन्द लेता हूँ। **मुझे मेरे पिता ने निर्देश दिया था, कि या तो मेरी गोद में बैठ कर देह और जगत दोनों को पृथक् समझकर सब कुछ देखना, नहीं तो यदि देह को 'मैं' कहना तो देह पर आधारित जगत को भी 'मैं' ही कहना। नहीं तो यह मेला अवश्य झमेला बन जाएगा।**

कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों के रचयिता का इकलौता मानस-पुत्र जीवात्मा जो अपने पिता ईश्वर के समान ही सभी विभूतियों से विभूषित था, वह अपने ही अधिकारों से वंचित हो गया। उसे दी गई यह देह जो संसार रूपी मेला देखने का माध्यम थी, वही देह ही इसे नचाने लगी। यह देह के लिए सुख-साधन, धन-सम्पदा, नाम-यश आदि एकत्रित करते-करते भटकने लगा। अन्ततः पशुओं की भाँति ही मरने लगा। **'मैं'** पतित हो गई, चेतना ही अवचेतना बन गई। रात को जब मैं सोता हूँ तो मुझे अपने नाम-रूप और उस पर आधारित जगत की अवचेतना नहीं होती। इसीलिए सोकर विश्राम व शान्ति का अनुभव करता हूँ क्योंकि उस वक़्त झमेल नहीं रहता। **'मैं'** होता हूँ लेकिन **'मैं'** सुषुप्ति के दौरान क्या होता हूँ, मैं नहीं जानता। मैं सोचता हूँ, कि मैं भी सोता हूँ, यद्यपि मैं यह नहीं कह सकता, कि मैं सोया हुआ हूँ। देह ने **'मैं'** को भी अपनी ही तरह जड़ और नश्वर बना दिया। देह के साथ तद्रूप होकर अजर-अमर जीवात्मा जन्मने-मरने वाला जीव बन गया। **देह ने अवचेतना में इसे अपना दास बना लिया।** देह ने **'मैं'** के सारे अधिकार छीन लिए। **'मैं' भी दुःखी हो गया और देह भी परेशान हो गई।** देह इसे परेशान करने के लिए नहीं दी गई थी, खेलने के लिए दी गई थी। खिलाने वाला ईश्वर अदृश्य और निराकार था और वह अपने ही मानस-पुत्र जीवात्मा को, जो उसी की भाँति अदृश्य और निराकार था, उसी को खिला रहा था। यह खेल खिलाने वाली शक्ति वैराग भी अदृश्य ही थी। आज हम इस मायिक सृष्टि का रहस्य हृदयंगम करते हैं।

गाँवों में बरसात का पानी गड्ढों में भर जाता है। कुछ गड्ढे आधे ही

भरते हैं। गड्ढे के किनारे पेड़ हों और सूर्य की रोशनी पेड़ों से छन-छन कर पानी पर पड़े, हवा चल रही हो, तो हिलते पानी से सूर्य की किरणों का प्रतिबिम्ब गड्ढे की दीवारों पर झिलमिलाता है। वह झिलमिलाहट सूर्य की है लेकिन सूर्य नहीं है। सूर्य के असंख्य प्रतिबिम्ब वहाँ नज़र आते हैं जो सूर्य का आभास कराते हैं, कि सूर्य देवता हैं। यदि उनका दर्शन करना है तो गरदन घुमाकर ऊपर देख लो। **जीवात्मा जो ईश्वर का अंश होने के कारण उसी के समान है वह इस चिदाभास रूप देह और जगत के साथ तद्‌रूप हो गया। वह जगत की मायिक झिलमिलाहट में खो गया। यह संसार का मेला ही झमेला बना गया।**

आजीवन हम शक्तियों के पीछे भागते रहते हैं, बहुत कुछ मिलता है, मिलकर खो भी जाता है, लेकिन मेरी चाहत इसलिए समाप्त नहीं होती क्योंकि मेरी चाहत मुझे चाहती है। **'मैं'** जो शिव-अंश है, जो वैराग रूप में अदृश्य **भस्मी'** के रूप में पंच-महाभूतों की देह में ही समाहित था। वह **'मैं'** (जीवात्मा) देह के इस निश्चित भविष्य **'भस्मी'** को भूले रहता है। जो स्वयं में शक्ति-पुंज था, वह भ्रम में प्रतिबिम्बों के पीछे भागता है। शक्तियाँ मिलती भी हैं, लेकिन जीव बना जीवात्मा वैराग रूप आधार छोड़ने के कारण शक्ति को सम्भालने की शक्ति खो बैठता है। वे शक्तियाँ ही विध्वसंक बन जाती हैं। **जो व्यक्ति शक्तियों के पीछे जानबूझ कर और गम्भीरता से भाग रहा है, तो समझ लेना चाहिए कि उसमें शक्तियों को सम्भालने की शक्ति (वैराग) नहीं है। यह दिव्य अधिनियम है।** कुछ प्राप्ति होने पर भी जीव में अज्ञात टीस बनी रहती है क्योंकि वस्तुतः वह अपने शिवत्व को ही चाहता है। उस टीस को मिटाने के लिए कभी धन के लिए, कभी सन्तान के लिए, कभी विभिन्न प्रतिभाओं व अन्य शक्तियों के लिए भागता है। वे प्राप्त होती हैं, मिल कर चली भी जाती हैं, लेकिन इसकी टीस बनी रहती है। इसे शान्ति इसलिए नहीं मिलती क्योंकि इसकी चाहत इसके निराकार स्वरूप **'मैं'** को चाहती है।

रात्रि में सोते समय **'मैं'** होता हूँ लेकिन **'मैं'** देह की अवचेतना में नहीं होता हूँ, इसलिए खेल समाप्त हो जाता है। जिस क्षण मैं देह की अवचेतना

में आता हूँ, खेल प्रारम्भ हो जाता है। मेरे खेल का आधार मेरे **नाम-रूप की अवचेतना है।** यही बन गया झमेला। **यदि मेरे खेल का आधार मेरी चेतना होती तो मेरे लिए सब कुछ मेला ही होता।** क्योंकि मेरी एक झपकी में नाम-रूप की अवचेतना समाप्त होते ही खेल ही नहीं रहता। मैं जब सुषुप्त होता हूँ, मृतक, मूर्च्छित या विस्मृति में होता हूँ तो मेरे नाम-रूप की अवचेतना के साथ ही खेल भी समाप्त हो जाता है। **उसमें मैं विश्राम इसलिए पाता हूँ क्योंकि देह रूप में अवचेतना के कारण जो झमेला बना हुआ है वह समाप्त हो जाता है।** चेतना में मुझे सोने की क्या आवश्यकता है क्योंकि **'मैं**' तो कभी सोता ही नहीं। मेरी देह की अवचेतना में सम्पूर्ण खेल **'मैं' देह** और सारे जगत के बीच है। मैं डॉक्टर बनकर बैठता हूँ तो मेरे पास मरीज़ आते हैं, शिक्षक बनता हूँ तो शिक्षार्थी आते हैं। हलवाई बनकर बैठता हूँ तो मिठाई लेने वाले आते हैं। क्योंकि यह **मेरी देह की अवचेतना कि मैं डॉक्टर हूँ, मैं शिक्षक या हलवाई हूँ वही परिपूरक विधा में मरीज़, शिक्षार्थी या मिठाई लेने वालों के रूप में प्रकट हो जाती है।** जिस दिन मुझमें मेरी चेतना प्रकट हो जाएगी तभी मैं इस सम्पूर्ण महा ब्रह्माण्ड के खेल का आनन्द लूँगा। दैहिक अवचेतना में तो देह के साथ तद्रूप हुआ मैं इसी प्रकार जन्म-जन्मान्तरों में भटकता रहूँगा।

'मैं' दृष्टा जीवात्मा को एक नाम-रूप की देह (स्थूल) तथा उस पर आधारित सम्पूर्ण नामरूपात्मक जगत (सूक्ष्म) खेलने के लिए मिला था। यह जगत हर क्षण बदलता है। जैसे देह की मानसिकता बदलती है वैसे-वैसे समान रूप से जगत बदलता है। निराकार व अदृश्य परमात्मा निराकार व अदृश्य ही जीवात्मा को खिला रहा है:–

''सच्चिदानंदोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

जीवात्मा, देह व देह पर आधारित जगत के रूप में खेल रहा है। इस खेल का आधार इसको दी गई एक नाम-रूप की देह है। देह का अस्तित्व है–जीवात्मा, जिसका समस्त प्रकटीकरण परमात्मा से हो रहा है। जब **'मैं'** जीवात्मा, देह के नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होता (जैसे कि

सुषुप्तावस्था, मृतकावस्था, मूर्च्छावस्था व विस्मृतावस्था) तो खेल समाप्त हो जाता है और जब नाम-रूप की अवचेतना में होता है कि 'मैं यह देह हूँ' तो खेल, झमेल बन जाता है। मेला भी झमेला बन जाता है। तो **'मैं'** क्या करूँ। **'मैं' महाचेतना, शिव का इकलौता मानस-पुत्र जब नाम-रूप की देह बन जाता है तो खेल नहीं बल्कि झमेल शुरू होता है। जब नाम-रूप की देह की अवचेतना में नहीं होता तो खेल ही नहीं होता। 'मैं'** जो कभी सोया नहीं, जो कभी मरा नहीं वह देह के साथ स्वयं को पहचान कर, सो भी जाता है और वह मरने सा भी लगता है। **'मैं'** चेतना है जो कभी न सोती है, न मरती है, न मूर्च्छित होती है, न विस्मृत होती है। वह देह के साथ तादात्म्य करके मरने सी लगी, सोने सी लगी, मूर्च्छित सी होने लगी। जब खेल समाप्त होता है, तो मैं कहता हूँ, कि मैं विश्राम कर रहा हूँ। **मेरे पिता-माता शिव-शक्ति ने जो खेल मेरे लिए रचा था वह खेल तो मैंने देखा ही नहीं।** मैं झमेले से थकता हूँ तो सो जाता हूँ। उसमें विश्राम इसलिए पाता हूँ क्योंकि झमेल नहीं रहता, लेकिन तब खेल भी समाप्त हो जाता है। तथाकथित जाग्रत होता हूँ तो खेल ही झमेल के रूप में सामने होता है।

देह के साथ तद्रूप इस भटकी हुई जीवात्मा को ईश्वर-कृपा से कभी कोई संत, सद्गुरु मिल जाता है। वह उसके चरणों में श्रद्धाभाव से समर्पित हो जाता है तो उसकी कृपा हो जाती है। सद्गुरु निर्देश देता है कि ''बेटा ! अपनी **'मैं'** को जाग्रत कर। तेरी देह सोई थी, तू नहीं सोया था। लेकिन तुझे भ्रम हो गया कि **'मैं'** सोया। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि तू कह नहीं सकता, कि मैं सो रहा हूँ।'' सद्गुरु कृपा करता है, उससे सुषुप्ति पर एकाग्र करते हुए ध्यान लगाने को कहता है। यदि हम अपनी सुषुप्तावस्था पर एकाग्र करें तो हमें अपनी देह सोई नज़र आएगी। साथ में बिस्तर, पलंग, घर दिखेगा। घर के अन्य सदस्य कुछ सोए, कुछ काम करते दिखाई देंगे। इस प्रकार हमारी **'मैं'** अपनी एक देह को छोड़कर उस देह पर आधारित जगत में चली जाएगी और **'मैं'** का कुछ विस्तार होगा। इसी प्रकार हम अपनी मृतकावस्था पर ध्यान करें तो उसमें हमें अपनी देह मृतक दिखेगी और हमारा ध्यान, देह

से हट कर रोने पीटने वालों तथा अर्थी आदि का प्रबन्ध करने वालों में चला जाएगा। इस प्रकार **'मैं'** का विस्तार हो जाएगा। लेकिन दोनों अवस्थाओं में देह भी रही और देह पर आधारित जगत भी बना रहा।

सद्गुरु अन्ततः देह की उस भौतिक अवस्था पर एकाग्र करने का निर्देश देता है, जहाँ देह नहीं रहती। देह व जीवन का निश्चित, परिलक्षित, दर्शित भविष्य है–भस्मी। **भस्मी निश्चित, परिलक्षित व दर्शित भविष्य है, इसलिए इसकी कल्पना नहीं, अवधारणा होगी।** यदि सद्गुरु की कृपा से भस्मी से एक क्षण के लिए भी आत्मसात् हो गए तो उस समय पंच-महाभूतों की देह नहीं होगी और मानस में वैराग का गर्भ ठहर जाएगा। वहाँ वैराग पहले से ही था क्योंकि शिव के वैराग रूप भस्मी ने ही पंच-महाभूतों का संगम किया है। तो वैराग का पौधा तब अंकुरित होगा जब जीते जी यह भस्मी से आत्मसात् हो जाएगा। तब वह वैराग अनाच्छादित हो जाएगा। **जहाँ वैराग होगा, वहाँ पाँच प्राणों का ज्योति पुंज भी होगा। दोनों एक दूसरे से पृथक् नहीं रह सकते।** सद्गुरु-कृपा से सिर-पैर सहित होकर जीवात्मा, देह की अवचेतना में क्रीड़ा का आनन्द लेता है। उसकी चेतना जाग्रत हो जाती है। उसके बाद जब जीवात्मा देह को अपने साथ पाता है तो देह का परिदृश्य बदल जाता है। वह देह जो इसको भगा रही थी, दुःखी व परेशान कर रही थी, इसकी सेविका सी बनी नज़र आती है। **यह देह जो जन्म-मृत्यु में बँधी काल्पनिक देह थी, यथार्थ देह बन जाती है। यह आई. क्यू. वाली बुद्धि जो जीवात्मा को भटका रही थी, दौड़ा रही थी वह विवेक, प्रज्ञा, मेधा व ऋतम्भरा आदि दिव्यताओं से युक्त हो जाती है।**

'मैं' की जागृति से जीवात्मा को आभास होने लगता है, कि यह देह मात्र संसार रूपी मेला देखने का माध्यम है। वह स्वयं न तो यह देह है और न देह इसकी है। वहाँ जीवात्मा का स्वरूपगत आनन्द देह की विभिन्न विधाओं नृत्य, गायन, संगीत, यज्ञ-हवन आदि में प्रकट होने लगता है। फिर इसे कोई काम नहीं रहता, इसके सारे काम इसकी देह पर आधारित जगत करता है। देह व जगत जिस लिए इसे मिला था उसका मूल स्वरूप जाग्रत

हो जाता है। क्योंकि **'मैं'** जाग्रत हो जाती है। पहले **'मै'** स्वयं को देह से पहचान रहा था अब देह स्वयं को मुझसे पहचानती है। फिर देह मेरे साथ मेरी शर्तों पर रहती है। वह अजर-अमर यथार्थ हो जाती है। क्योंकि देह **'मैं'** के कारण जानी जाती है और **'मैं'** स्वयं में सच्चिदानंद परमात्मा का एकमात्र मानस-पुत्र है। किसी महापुरुष का यदि नाम अमर है तो इसका अर्थ है कि उसकी **'मैं'** उस नाम-रूप में जाग्रत हो गई। वह देह चारों युगों तक जानी जाती है और लोग उसका अनुसरण करते हैं।

जब **'मैं'** देह से जुड़ा तो मैं भी देह की तरह नश्वर हो गया। अब देह जब **'मैं'** से जुड़ी तो देह भी अजर-अमर हो गई। क्योंकि **'मैं'** कभी नहीं मरता। जिस देह को **'मैं'** अधिकृत करता हूँ, जब तक **'मैं'** रहता हूँ तब तक रहती है और सेविका बनी रहती है। वह प्रकट होती है, अप्रकट होती है। अपने भक्तों के काम करती है। जो उसका नाम लेते हैं उनकी कामनाएँ पूरी करती है। वास्तव में वह विदेह देह होती है जो स्वयं में हर्ष-उल्लास, अभय, आरोग्यता, सर्वसम्पन्नता, भक्ति, मस्ती, साहस, उत्साह, कृपा व आनन्द का अविरल स्रोत होती है।

इस सत्यानुभूति के बाद जीवात्मा तनिक भ्रमित होकर देह के नाम-रूप की अवचेतना का मात्र अवलम्बन लेता है, ताकि समस्त साकार सृष्टि का आनन्द ले पाए। खेल देखकर वह पुनः अपने निराकार व नाम-रूप से परे चेतन स्वरूप में आ जाता है। एक छोटा बच्चा जब तक माँ की उँगली पकड़े रहता है, तब तक उसे खिलौने और मेले दोनों का आनन्द आता है। यदि भीड़ में माँ की उँगली छूट जाए तो खिलौना और मेला दोनों उसे बेकार और झमेला लगने लगते हैं। अतः इस मेले का समस्त आनन्द ईश्वर-सम्मुखता में ही है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(14 मई, 2006)

स्रष्टा, सृष्टि एवं दृष्टा

(भाग 3)

मानव-जीवन में देह की अवचेतना, कि 'मैं देह हूँ' (देहाध्यास) और 'देह मेरी है' (देहाधिपत्य) हमारी चेतनता को आच्छादित कर लेती है। **'मैं'** विशुद्ध चेतना है, जीवात्मा है। ईश्वर का इकलौता मानस-पुत्र है।वह देह के साथ तद्रूप होकर अपनी नाम-रूप की देह को अपना स्वरूप समझ लेता है। एक नाम-रूप की देह को **'मैं'** मानने के कारण अन्य देहों एवं जगत को स्वयं से भिन्न मानता है। अपने परिवार, पद-प्रतिष्ठा, धन-दौलत, मकान-दुकान आदि का निर्माण करता है। सगे-सम्बन्धियों, समाज, देश तथा विश्व स्तर पर भी बहुत कुछ करता रहता है। **जीवात्मा देहाध्यासवश पुरुषार्थ के प्रथम सोपान 'अर्थ' पर रागवश देह की विभिन्न प्राप्तियों के लिए ही अनेक पूजा-प्रकरण, तीर्थ-यात्राएँ, जप-तप, ध्यान-समाधि, दान-पुण्य, व्रत-उपवास, यज्ञ-हवन तथा कई प्रकार के तथाकथित धार्मिक अनुष्ठान भी करता है।** उसके द्वारा ईश्वर-निमित्त किए जाने वाले तथाकथित भक्ति-प्रकरण भी अवचेतना में ही होते हैं। इस प्रकार चेतना पर अवचेतना हावी होती जाती है, क्योंकि सब कुछ अवचेतना के स्तर पर ही होता है।

यह दैहिक अवचेतना वस्तुतः जीव भाव है, जिससे जीवात्मा का चेतन स्वरूप आच्छादित हो जाता है। **यह अवचेतना भी चेतना का ही चिदाभास है। यदि चेतना न हो तो अवचेतना भी नहीं होगी। यह सम्पूर्ण जगत, चेतन का आभास (चिदाभास) ही है।** तो जीवात्मा देह के साथ तद्रूप

होकर जीव-भाव में आ गया और अपने चेतन स्वरूप के विमुख सा होकर अवचेतना में अपने जगत का निर्माण करने लगा। वह जगत जो इसके मनोरंजन के लिए परमात्मा द्वारा स्वतः निर्मित, पालित व संहारित होते हुए अनेकानेक रूपों में प्रकट हो रहा था, उसके लिए जीव-भाव में जीवात्मा को भ्रम हो गया, कि यह सब मेरे कारण अथवा मेरे द्वारा हो रहा है। स्वयं में चेतन का अंश जीवात्मा ने जब जगत के अधिग्रहण व प्रस्तुतिकरण की निमित्त एक नाम-रूप की देह को अपने साथ पाया तो उसे अपना स्वरूप समझ बैठा और चेतन के विमुख **सा** हो गया। स्वयं में जन्मने-मरने, पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ का हेतु बन बैठा। इस दुर्घटनावश वह आधि, व्याधि उपाधि, मल, विक्षेप, आवरण और प्रारब्धवश काल-चक्र में फँसता चला गया।

चेतना अकाल व निराकार थी, अवचेतना सकाल व साकार है। चेतना में आनन्द ही आनन्द है और अवचेतना में कभी सुख हैं, कभी दुःख हैं। रोग, दोष, आधि, व्याधि, उपाधि आदि हैं। अवचेतना के ये सुख-दुःख आदि भी चेतना का आभास हैं, लेकिन चेतन के इस आभास में उसे कभी भी सन्तुष्टि नहीं मिलती। **कहाँ असीम आनन्द और कहाँ सीमित सुख।** इसलिए जीवात्मा इस जीव-भाव में असन्तुष्ट, अतृप्त, जन्मता रहता है, मरता रहता है। कुछ न कुछ करता रहता है और जो कुछ उसके द्वारा स्वतः हो रहा है उसे अपना करना अथवा अपना पुरुषार्थ व कर्मठता मान लेता है। **जितना अवचेतन जगत है, उसका आधार उसका यह जीव-भाव या देहाध्यास व देहाधिपत्य ही है। उसमें उसे निरन्तर एक अज्ञात खोज रहती है।** वह और-और पाना चाहता है। सुख आता है और सुख पाना चाहता है, फिर काल-चक्र का दूसरा छोर **'दुःख'** आ जाता है। फिर दुःख का उन्मूलन चाहता है। कहीं भी ठहरता नहीं। स्थिर होने के लिए भी अस्थिर होता रहता है, कि हे प्रभु ! मेरी बेटी की शादी हो जाए फिर मैं आराम से गंगा किनारे रह कर भजन करूँगा। बेटी की शादी भी हो जाती है लेकिन यह रागवश और फँसता जाता है। देह व देह पर आधारित जगत का राग व आसक्तियाँ ही उसकी तथाकथित भक्ति की भी प्रेरक बनी रहती हैं और वह पुरुषार्थ के

प्रथम सोपान **'अर्थ'** पर ही युगों-युगान्तरों तक जन्म-जन्मान्तरों के काल-चक्र में भटकता रहता है।

अवचेतन जगत का आधार एक नाम-रूप की देह की अवचेतना है। देह की अवचेतना का आधार **'जीवात्मा'** चेतन है। अतः इस चिदाभास रूप जगत में किसी भी अवस्था में कुछ भी प्राप्त कर लेने पर इसे असीम सन्तुष्टि नहीं मिलती, एक अज्ञात टीस व खोज बनी रहती है। वह यह नहीं जानता कि वह क्या चाहता है और उसे तलाश किस चीज़ की है। हम दिन भर काम करते हैं, फिर थक कर सो जाते हैं। हमें सोने में वह वस्तु नहीं मिलती जो हम चाहते हैं, तो हम स्वप्न-सृष्टि में चले जाते हैं। स्वप्न में भी वह वस्तु नहीं मिलती तो स्वप्न से फिर सो जाते हैं या जाग जाते हैं। जाग कर फिर कुछ खोजने लगते हैं। तो इस अवचेतन जगत में जन्म, जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति, मृत्यु किसी भी दैहिक अवस्था में जीवात्मा की तलाश समाप्त नहीं होती। कुछ भटकन सी लगी रहती है। लेकिन यह उसी को अपनी कर्मठता मानता है।

वास्तव में जीवात्मा का चैतन्य स्वरूप आच्छादित है, इसकी विशुद्ध **'मैं'** लुप्त सी हो गई है। उसे यह अज्ञात रूप से खोज रहा है। **जीवात्मा का जीव-भाव में फैलाया सारा आडम्बर मात्र अपनी विशुद्ध चेतना 'मैं' की खोज के लिए होता है।** इसीलिए भौतिक प्राप्तियों और देह पर आधारित जगत में विभिन्न उपलब्धियों के बाद भी असन्तुष्ट रहता है तो अध्यात्म की ओर मुड़ता है। यह तथाकथित आध्यात्मिक जगत में आता है। जगह-जगह मठ-मन्दिर बनाता है। स्वयं ज्ञानी होकर इसमें अहं भाव आ जाता है, कि मैं पूरे विश्व को ज्ञान दे दूँ। इस प्रकार यह अपनी ही कल्पना में एक अज्ञानी विश्व बना लेता है। उनमें जितने ज्ञानी हो गए, उनकी गणना करता है। कभी वक्ता बनता है, कभी श्रोता बनता है। लेकिन इसकी तलाश समाप्त नहीं होती। क्योंकि सब कुछ दैहिक अवचेतना के स्तर पर ही होता है। चेतना में वही वक्ता व श्रोता है, वही गुरु है, वही शिष्य है। वही पिता है, वही पुत्र है :–

"निराकार रूपं शिवोऽहम् शिवोऽहम्।"

चेतन जीवात्मा, एक जीव के रूप में एक से अनेक बनता है और अनेकों में वह एक ही होता है। **यह भाव, कि मैं ज्ञानी हूँ, गुरु हूँ, मैं बहुतों का अज्ञानान्धकार दूर कर रहा हूँ यह भी इसकी अवचेतना ही है।** जहाँ यह एक क्षण के लिए भी देह की अवचेतना से परे होता है, तो न वहाँ कोई गुरु रहता है न शिष्य, न ज्ञानी रहता है न अज्ञानी। उन क्षणों में वह जो होता है उसका वर्णन भी यदि करे तो किस को करे। यदि मैं कहूँ कि आप अज्ञानी हैं तो मैं यह स्वयं से ही कह रहा हूँ। क्योंकि **'मैं'** जीवात्मा है, जो सबकी एक है। मेरा स्वरूप स्वयं में ज्ञान है। मैं ज्ञान और अज्ञान दोनों का ज्ञाता हूँ। इसीलिए **स्वान्तः सुखाय भाव से जब किसी के भ्रम का निवारण उसी चेतनता की कृपा से व इच्छा से करता हूँ तो सद् का प्रकाट्य होता है। ईश्वर एक है, जीवात्मा एक है और उसे दी गई एक नाम-रूप की देह की अवचेतना अथवा उसका जीव भाव ही समस्त नाम-रूपात्मक सृष्टि का आधार है। जो श्रोता है, वही वक्ता है, जो ज्ञानी है वही अज्ञानी है। जब यह भाव आ जाए तो वहाँ सद् का प्रकटीकरण होता है। परम सत्य है कि जब 'मैं' कुछ बनता हूँ तो मैं जगत निर्मित करता हूँ।** वस्तुतः वह जगत निर्मित स्वतः होता है लेकिन मैं यह मान लेता हूँ कि मैं यह कर रहा हूँ। **इसलिए जो खेल हो रहा है वह मेरे लिए झमेल बन जाता है।**

देह रूप में 'मैं' साकार ब्रह्म है, लेकिन साकार ब्रह्म का आधार निराकार ब्रह्म है। जैसे देह की अवचेतना का आधार, मेरी चेतना है। चेतना न हो तो दैहिक अवचेतना और यह चिदाभास रूप जगत भी नहीं होगा। चेतना के आधार पर ही अवचेतना को **'मैं'** देख, सुन, स्पर्श, सूँघ और चख रहा हूँ। चेतना को न **'मैं'** देख सकता हूँ, न स्पर्श कर सकता हूँ, न सूँघ सकता हूँ, न चख सकता हूँ और न सुन सकता हूँ। तलाश मुझे उस चेतना की है और मैं **उस चेतना को अवचेतना में ढूँढ रहा हूँ।** जबकि **'मैं'** स्वयं चेतन हूँ। मैंने चिदाभास का वर्णन करते हुए कहा था, कि सूर्य का प्रतिबिम्ब एक गड्ढे के जल में पड़ता है और हवा चलती है तो गड्ढे की दीवारों पर

सूर्य के छोटे-छोटे प्रतिबिम्ब बन जाते हैं। अब सूर्य भगवान को भ्रम हो जाए, कि ये प्रतिबिम्ब मैं हूँ तो विभिन्न छोटे-छोटे बिम्बों में भटक ही तो जाएगा। यही जीवात्मा के साथ दुर्घटना हो गई। **अतः मैं (जीवात्मा) ने ब्रह्म को जगत में देखना चाहा। पहले देह को माना, कि मैं देह हूँ तभी तो जगत को अपने से भिन्न देखा।** जैसे ही वह एक देह से तद्‌रूप हुआ, उसी समय जगत उससे विलग हो गया। वह देह भी उसकी नहीं रहती, साथ ही सम्पूर्ण जगत भी उससे पृथक् हो जाता है। चेतना आच्छादित हो जाती है और यह साकार खेल उसके लिए झमेल बन जाता है।

जब हम मिल-बैठकर कोई खेल खेलते हैं तो परस्पर अपने आनन्द के लिए ही खेलते हैं। उसमें हार-जीत का उतना महात्म्य नहीं होता, जितना इकट्‌ठे खेलने का महात्म्य होता है। लेकिन जैसे ही मुझे देह पर अध्यास हुआ, अधिपत्य हुआ कि मैं देह हूँ और देह मेरी है, तो उसी समय सम्पूर्ण समष्टि से कट कर **'मैं'** एक नाम-रूप देह में तुच्छ सा जीव मात्र (व्यष्टि) रह जाता हूँ। एक व्यक्ति की दृष्टि से **'मैं'** अपनी समष्टि खो बैठता हूँ। मेरी समष्टि, मेरी व्यष्टि पर भार बन जाती है। **देह मेरी अवचेतना है जो सम्पूर्ण समष्टि का आधार है और जिसका आधार मेरी चेतना है।**

मेरा निराकार स्वरूप ही मेरा भीतर है, जहाँ से एक ही साथ मेरी देह भी प्रकट होती है और देह पर आधारित समस्त जगत भी प्रकट होता है। **वहाँ से मैं विशुद्ध जीवात्मा एक से अनेक हुआ। यह एक है मेरी एक नाम-रूप की देह और अनेक है उस देह पर आधारित समस्त उस समय का जगत। सारा खेल भी इन्हीं दोनों के बीच हो रहा है।** इस खेल का दृष्टा **'मैं'** (जीवात्मा) न वह देह था, न उस देह पर आधारित जगत था। **न 'मैं' व्यष्टि था, न समष्टि था और यदि 'मैं' व्यष्टि था तो समष्टि भी 'मैं' ही था।** परमात्मा ने मेरे लिए जगत का खेल रचा था। खेल देखने के लिए एक नाम-रूप की देह इस निर्देश के साथ दी थी कि बेटा यदि देह को **'मैं'** कहना तो सारे जगत को भी **'मैं'** ही मानना। क्योंकि जब देह नही रहती तो जगत भी नहीं रहता। **इसलिए या तो दोनों को 'मैं' नहीं कहना और**

आनन्द में उस एक देह का अवलम्बन लेकर खेल देखना अथवा खेल खेलना, तो देह और देह पर आधारित जगत दोनों को ही अपना स्वरूप मानना। तभी खेल का आनन्द आएगा।

यह अनुभूति हो जाए, कि मैं देह नहीं हूँ और जगत भी नहीं हूँ, मैं निराकार स्वरूप जीवात्मा हूँ अथवा देह भी **'मैं'** हूँ और जगत भी **'मैं'** हूँ तभी इस साकार खेल का आनन्द आएगा। नहीं तो परमात्मा ने जो खेल रचाया है, वह खेल ही झमेल बन जाएगा। **जीवात्मा देह रूप में अपनी अवचेतना के स्तर पर भी देख रहा है और अपने चेतन जीवात्मा स्वरूप में भी देख रहा है। अतः जीवात्मा चेतना एवं अवचेतना दोनों ही स्तरों पर मात्र दृष्टा है, क्योंकि यह खेल रचाने वाला उसका अस्तित्व परमात्मा है।** आनन्द की अनुभूति के लिए कोई आधार चाहिए था, इसलिए परमात्मा ने अपने ही अंश, अपने इकलौते मानस पुत्र (जीवात्मा) को एक देह दी। देह जीवात्मा को दिया गया मात्र एक उपकरण था, जिसका अवलम्बन लेकर उसे परमात्मा द्वारा उसी के लिए रचाई गई समस्त सृष्टि का आनन्द लेना था और वाह-वाह करनी थी। **'मैं'** (जीवात्मा) कहीं आता-जाता नहीं, मात्र एक देह का अवलम्बन लेकर उस एक देह तथा समस्त नाम रूपात्मक सृष्टि का रसास्वादन करता है। उसमें कभी कुछ घटता बढ़ता नहीं। खोना-पाना, सुख-दुःख, लाभ-हानि, मिलना-बिछुड़ना, जन्म-मरण, यश-अपयश, उन्नति- अवनति, पाप-पुण्य आदि विविधमुखी दृश्य स्वप्न सृष्टि की भाँति उसके सम्मुख प्रकट होते रहते हैं, बनते व मिटते रहते हैं। दृष्टा जीवात्मा, देह व देह पर आधारित समस्त जगत के दृश्यों का रचयिता नहीं है। इनका रचयिता, पालनकर्ता और संहारकर्ता परमात्मा है।

सम्पूर्ण दृश्य साकार है, परमात्मा खिला रहा है, जीवात्मा खेल रहा है। प्रश्न उठता है कि यदि सम्पूर्ण दृश्यमान जगत परमात्मा की क्रीड़ा है तो इसके दृष्टा जीवात्मा की भूमिका क्या है? एक लेखक ने नाटक लिखा। वह स्वयं निर्माता, लेखक, निर्देशक, वित्त प्रबन्धक, विशेषज्ञ बना। उसने विभिन्न

पात्र बनाए और उसका मंच पर मंचन हुआ तो उसे देखने के लिए दर्शक भी तो चाहिए। परमात्मा पुनर्निर्माता, संशोधक, संचालक भी है। वही मंचन भी कर रहा है, वह विभिन्न पात्र बनाता-बिगाड़ता है, विभिन्न संवाद भी वही बुलवाता है। किस पात्र ने कब मंच पर आना है, कहाँ किस स्थिति में किस समय रहना है, इन समस्त दृश्यों का सूत्रधार परमात्मा ही है। **इस सबका दर्शक भी तो चाहिए। कोई ऐसा अस्तित्व अपेक्षित है जो इसकी प्रशंसा कर सके।** प्रश्न उठता है, इसकी गारन्टी क्या है, कि वह प्रशंसा ही करेगा? परमात्मा ने सृष्टि रूपी नाटक आनन्द में रचा, आनन्द में विभिन्न पात्र बनाए और आनन्द में पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि एवं आकाश की बाहरी नाट्यशाला में उसका मंचन हुआ। नाट्यशाला वही है, लेकिन रोज़ का खेल नया था। इस नाट्यशाला को उसने सूर्य, चन्द्र, तारा-मण्डल, नक्षत्रों आदि से सजाया, नित्य नवीन मौसम रूपी परिधानों तथा प्रकृति के विविध रंगों रूपी अलंकारों से अलंकृत किया। झरनों, प्रपातों, तरुओं, वनस्पतियों तथा पक्षियों के कलरव से गुंजरित किया। जैसा उसका भाव था अथवा जैसा नाटक होना था उसी के अनुसार वह इस नाट्यशाला में विभिन्न दृश्यों का संयोजन करता रहा, पारिवेशिक सुसज्जा करता रहा।

वह परम समर्थवान, परम सशक्त बल-बुद्धि, विद्यावान परमात्मा ही दृष्टा जीवात्मा बनता है। समस्त सृष्टि साकार है और सृष्टि निर्मित नहीं होती बल्कि प्रकट होती है, एक नाटक के रूप में भ्रम व खेल है। परमात्मा और जीवात्मा दोनों निराकार व अदृश्य हैं। दोनों सच्चिदानंद एवं सुखराशि हैं। इस खेल की प्रशंसा करने के लिए जीवात्मा को एक मानव-देह दी गई। उस देह को भ्रमवश इसने अपना स्वरूप समझ लिया, कि मैं देह हूँ। जबकि इसे निर्देश दिया गया था कि यदि देह को **'मैं'** मानना है तो सम्पूर्ण जगत को भी **'मैं'** मानना है। तभी तुझे खेल का आनन्द आएगा। इस पंच-महाभूतों के मायिक प्रपंच को उसे तनिक व क्षणिक भ्रमित होकर देखना था और वाह-वाह करनी थी। **लेकिन जैसे ही इसने देह को 'मैं' माना तो सारा जगत इससे पृथक् हो गया और सारा खेल ही झमेल बन गया।** दृष्टा

जीवात्मा है, दृश्य देह व देह पर आधारित जगत है। जिसका निर्माता, पालनकर्ता तथा पटाक्षेपकर्ता स्वयं ईश्वर है। यह सम्पूर्ण चराचर सृष्टि प्रकाट्य है। जीवात्मा रूप में ईश्वर ही इस सृष्टि का दर्शक व प्रशंसक भी है और पंच-महाभूतों में यह सम्पूर्ण जगत उसके पंच-प्राणों की प्रतिच्छाया है। सम्पूर्ण साकार सृष्टि पंच-महाभूतों में एक देह व उस पर आधारित चराचर जगत के रूप में है। जीवात्मा स्वयं में देह नहीं है, लेकिन साकार सृष्टि में आकर स्वयं को देह के साथ पाता है।

साकार उपासना द्वैत में होती है, भक्त और भगवान के बीच। ईश्वर निराकार है और भगवान साकार है। इसी प्रकार जीवात्मा भी निराकार है और एक नाम-रूप की देह लिए वह जीवात्मा ही **'भक्त'** के रूप में साकार है। इस प्रकार निराकार में भी परमात्मा और जीवात्मा का द्वैत है। स्रष्टा परमात्मा और दृष्टा जीवात्मा दोनों निराकार हैं और यह समस्त दृश्य साकार है। साकार में भी भक्त और भगवान का द्वैत है। यह सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड ईश्वरीय संरचना है शिव-शक्ति क्रीड़ा का बाह्य प्रकाट्य है। प्रत्येक स्थिति में इसकी पूर्णतः प्रशंसा करने के लिए कोई ईश्वर जैसी सत्ता चाहिए, जो इसका दर्शक हो। इसमें पाँच गुण होने चाहिएः—

1. उस लेखक या निर्देशक ने जिस भाव से वह खेल रचा, उसी भाव को वह पकड़ सके।
2. वह उस लेखक व निर्देशक का बहुत बड़ा अन्ध प्रशंसक हो। उसका चहेता हो व उसे दीवानों की तरह से चाहे।
3. किसी भी रचना की प्रशंसा करने के लिए आनन्द से सराबोर मानसिकता की आवश्यकता है। बुझे हुए, उदास लोग किसी की प्रशंसा नहीं कर सकते। वाह-वाह करने के लिए आनन्दमयी मानसिक स्थिति चाहिए।
4. आगे क्या होने वाला है, उससे वह अनभिज्ञ हो। उसके मन में आगे आने वाले दृश्य के प्रति कौतूहल मिश्रित उल्लास हो।
5. जो रचना वह देख रहा है उसे स्वयं रचने में असमर्थ हो।

ये पाँचों गुण मात्र जीवात्मा में हैं। ये समस्त दैवीय गुण हैं। जीवात्मा को दी गई सूक्ष्म मानव-देह निराकार ही है। इसी में अदृश्य रूप से इसकी एक देह तथा उस पर आधारित जगत अंकित है। जो साकार रूप में समय-समय पर विभिन्न मानसिक स्थितियों के अनुसार प्रकट होता रहता है। वह उसका दृष्टा है। जब तक मैंने (जीवात्मा) स्वयं उस देह को नाम-रूप में नहीं पहचाना था, वह मेरे लिए निराकार ही थी। देह पहले से थी लेकिन जब तक मैंने उसे अधिकृत नहीं किया था, मेरे लिए नहीं थी। क्योंकि मैं उसके प्रति जागरूक नहीं था, देह के प्रति चेतन नहीं था। **मुझ में चेतना थी, लेकिन देह की अवचेतना नहीं थी।** मैंने देह का साकार नाम-रूप तब पहचाना, जब मैंने स्वयं को देह से पहचाना। तब वह अदृश्य व निराकार देह मेरे लिए नाम-रूप की पंच-महाभूतों की साकार देह बन गई। इससे पहले तो मेरे लिए निराकार ही थी। वह जड़ इसलिए थी क्योंकि मैं Unaware था, कि मुझे कोई निराकार देह मिली हुई है। बहुत ही सूक्ष्म और रहस्यमय विवेचन है। मैं एक और उदाहरण देता हूँ।

मैं रात को सुषुप्तावस्था में होता हूँ, फिर मैं तथाकथित जागता हूँ। ऐसे ही जैसे हमने बचपन में तथाकथित होश सम्भाला। तो मेरे लिए देह साकार उसी समय हुई जब मैं सुषुप्तावस्था से जागा या मैंने स्वयं को देह रूप में माना। सुषुप्तावस्था में तो वह मेरे लिए निराकार ही थी। **मैं भी था, देह भी थी, दोनों ही निराकार थे। लेकिन मैं अपनी और देह की निराकारावस्था का आनन्द इसलिए नहीं ले पा रहा था** क्योंकि मैं भी देह के साथ तद्रूप होकर सोया हुआ था। विशुद्ध चेतना **'मैं'** जीवात्मा है जो कभी सोया नहीं। **वह भी सोया सा होकर नाम-रूप की देह से विलग अपनी चेतनता के प्रति जाग्रत नहीं था।** मेरे लिए काल और साकार देह तब बनी जब मेरे नेत्र खुले और मैं तथाकथित जागा। यदि उस समय मैं अपनी चेतनता के प्रति चेतन होता और देह की सुषुप्तावस्था वाली मेरी मानसिक स्थिति होती तो मैं भरपूर आनन्द लेता। मैं देह और देह पर आधारित जगत के परिदृश्य का भरपूर आनन्द इसलिए लेता क्योंकि मेरे लिए न वहाँ जन्म था, न मृत्यु, न

धन, न प्रौपर्टी, न पद, न प्रतिष्ठा, न काल, न कोई सम्बन्ध, न धर्म, न कर्म, न कर्तव्य, न लेना, न देना, न व्यवसाय, न नौकरी और सारा खेल चल रहा था। **मैं उस खेल का खेल रूप में उसी रूप में आनन्द लेता जिस आनन्द में मेरे अस्तित्व परमात्मा ने मेरे लिए समस्त खेल रचाया था।** उसमें मेरा हस्तक्षेप ही कुछ नहीं होता। मेरे लिए मेरी देह निराकार होती, जन्म-मृत्यु से रहित, अकाल या कालातीत, यथार्थ देह होती।

बचपन में माँ की गोद में था तो मुझे पता नहीं था कि मैं कौन हूँ? देह तो मेरी तब भी थी। लेकिन मेरे लिए नहीं थी। मैं उस खेल का आनन्द नहीं ले पाया, हाँलाकि सब मुझे देखकर, मुझसे खेल कर आनन्दित होते थे। इसका कारण यह था, कि मेरी विशुद्ध चेतनता उस बाल्यावस्था में जाग्रत नहीं थी। **जब मैं स्वयं के प्रति तथाकथित चेतन हुआ तो मैंने स्वयं को देह मान लिया और मेरी चेतना ही अवचेतना बन गई।** यदि बाल्यावस्था की मानसिकता में मेरी चेतना जाग्रत होती तो मैं भी उस खेल का आनन्द लेता। मैं जो दूसरों को देख-देख कर माँ की गोद में बैठा-बैठा हँस रहा था अथवा किसी को देखकर खिलौना आदि फेंक रहा था वह मुझसे करवाया जा रहा था और अन्य सभी मेरे लिए सब कुछ कर रहे थे। माँ के गर्भ में उस भ्रूणावस्था में ही सारी Recording हो चुकी थी जिसके अनुसार खेल चल रहा था। **मैं मृतकावस्था में भी स्वयं को मृतक समझ लेता हूँ, इसीलिए मृतक या मूर्च्छित होता हूँ तो मेरे लिए देह नहीं होती, विस्मृति में होता हूँ तो मेरे लिए देह नहीं होती।** कब मैं माँ के गर्भ में आया, फिर नौ महीने बीते, मेरा जन्म हुआ, अबोध शिशु रूप में मैं माँ की गोद में खेला, बचपन बिताया तब मेरे लिए साकार देह कहाँ होती है। **जैसे ही मैंने स्वयं को देह से पहचाना 'मैं' जीवात्मा से जीव बन गया और देह निराकार से साकार हो गई।**

मैं सोया हुआ हूँ। मेरे लिए साकार देह नहीं है, मैं जागा मेरे लिए साकार देह प्रकट हो गई। **सोई हुई देह यथार्थ थी लेकिन मेरे लिए यथार्थ इसलिए नहीं थी क्योंकि मैं भी सोया हुआ था। वह यथार्थ देह नाम-रूप से**

परे थी। सारा खेल चल रहा था पर मैं उस खेल का आनन्द नहीं ले पाया, क्योंकि देह के साथ तद्‌रूप होकर मैं भी सो गया। जन्मों-जन्मान्तरों में देह के साथ तादात्म्य के कारण मेरी चेतनता पूर्णतः आच्छादित हो जाती है। जब मैं देह के साथ तद्‌रूप होता हूँ तो खेल तुरन्त झमेल बन जाता है।

'मैं' मानस है। मैं अमुक-अमुक हूँ, यह अवचेतना है। हम सब अपने साथ **'मैं'** लगाते हैं। कभी हमारा इस बात पर विवाद नहीं होता, कि कोई हमारी **'मैं'** को अपने साथ क्यों लगा रहा है। क्योंकि **'मैं'** एक ही है, **'मैं'** मन है। **'मैं'** जीवात्मा है, देह के रूप में **'मैं'** का धर्म वैराग या भस्मी की अवधारणा है। विभिन्न धर्मों के लोग कहते हैं, कि मैं हिन्दू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, मैं सिक्ख हूँ, मैं ईसाई हूँ। अरे ! एक **'मैं'** के चार धर्म कैसे हो गए? धर्मों में विभिन्नता कैसे हो गई? देह के साथ तद्‌रूप होकर मैंने कहीं दाढ़ी रख ली, कहीं तिलक लगा लिया, कहीं नमाज़ पढ़ ली, कहीं गीता बाँच ली। धर्मों की विभिन्न पद्धतियों के सारे चिन्ह देह में लगाए। **'मैं'** में कोई चिन्ह नहीं लगा। **'मैं'** का कोई अपना धर्म होता, तो लगता। जीवात्मा धर्मातीत है और सभी धर्म उसके हैं। क्योंकि जब देह नहीं थी तो **'मैं'** था, देह नहीं रहेगी तो **'मैं'** रहूँगा। जब देह है तब भी **'मैं'** वह विशुद्ध जीवात्मा ही हूँ। देह से स्वयं को पहचान कर मुझे भ्रम हो जाता है कि 'मैं देह हूँ' इसलिए मेरा धर्म अमुक-अमुक हैं। **देह पर लगाए समस्त आडम्बरों को मैंने अपना धर्म मान लिया तथा 'मैं' ही 'मैं' से लड़ने लगा। 'मैं'** अपनी सत्ता से बहुत पतित हो गया। देहों में द्वैत आ गया, जो द्वैत था ही नहीं।

अन्ततः सद्‌गुरु-कृपा से मैंने स्वयं को **'तू'** से पहचाना, कि **'तू'** है तो **'मैं'** हूँ:–

''तोहि मोहि भेद कैसा, जल तरंग जैसा।''

अन्तर यह है, कि तुम बल, बुद्धि, विद्यावान, परम समर्थ, परम सशक्त हो। इस समस्त सृष्टि के स्रष्टा हो, मैं स्वयं में परम असमर्थ, अशक्त, बल, बुद्धि, विद्याहीन, तन-मन-धन हीन, तेरा ही अंश मात्र दृष्टा हूँ। सद्‌गुरु-कृपा

से इस भाव की सिद्धि के बाद जो देह **'मैं'** को मिली थी, वह यथार्थ हो गई। उसका न कोई धर्म, न कर्म, न लिंग, न आकार, न काल, न सम्बन्ध, न गुण, न अवगुण। **'मैं'** का धर्म **वैराग** था। **यह 'मैं' तब जाग्रत हुई जब 'मैं' ने अपनी तथाकथित जागृति में स्वयं को भस्मी रूप में देखा। देह से हट कर देह का वह भविष्य देखा जिसका अतीत कोई देह नहीं थी। तभी 'मैं' की विशुद्ध चेतना जाग्रत हुई।** जब मैं यह कहता हूँ, कि 'मैं देह हूँ' तो मैं यह क्यों नहीं कहता, कि 'मैं भस्मी हूँ'। सोई हुई देह को मैंने अपने से पहचाना, कि मैं सोया हुआ था। मृतक देह को मैंने स्वयं से पहचाना, कि मैं मरूँगा। आपरेशन से पहले मुझे मूर्च्छित किया था। मूर्च्छित देह से स्वयं को पहचाना कि मैं मूर्च्छित था। देह की सभी अवस्थाओं से मैं स्वयं को जोड़ता हूँ तो मैं यह क्यों नहीं कहता, कि **'मैं**' भस्मी हूँ। वह तो देह का ऐसा निश्चित, परिलक्षित, दर्शित भविष्य है जिसका अतीत कोई देह नहीं है। **सद्‌गुरु कहता है, कि तू न देह रहा, न जीवात्मा रहा। तू तो क्षुद्र जीव बन गया। तेरा विशुद्ध स्वरूप बिल्कुल ढक गया।** तू जो कुछ भी कर रहा है उसका अर्थ कुछ नहीं है। जो हो रहा है वह खेल पहले ही अंकित है, उसी के अनुसार हो रहा है और तू समझ रहा है, कि तू कर रहा है। तुझे तो केवल उसकी वाह-वाह करने के लिए धरती पर उतारा गया था। तूने देह पर कब्ज़ा करके, उसे यथार्थ देह से जन्म-मृत्यु वाली काल्पनिक देह बना दिया। जीव-सृष्टि में तूने पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, कर्म-बन्धन, धर्म-बन्धन, सम्बन्ध-बन्धन, काल-बन्धन, कर्तव्य-बन्धन, न जाने क्या-क्या बना लिये और जन्मों-जन्मान्तरों से फँसता ही चला गया।

बार-बार तुझे चेतावनी मिलती है। तू ख़ाक बनता है फिर देह लेता है। इसलिए अपनी इस तथाकथित जाग्रतावस्था में भस्मी की अवधारणा क्यों नहीं करता? समस्त दैहिक स्थितियों में बस यही एक छिद्र है जहाँ से तू कूद कर बाहर आ सकता है। **परन्तु इसके लिए सद्‌गुरु की विशेष कृपा अपेक्षित है।** जन्मों-जन्मान्तरों में युगों-युगान्तरों से धक्के खाता-खाता केवल सद्‌गुरु-कृपा से ही तू पंच-महाभूतों की काल्पनिक जीव-सृष्टि से बाहर आ

सकता है। कोई भी देह की अवस्था ऐसी नहीं जिसमें देह न हो। सुषुप्तावस्था, मूर्च्छावस्था, विस्मृतावस्था, मृतकावस्था में देह होगी। **केवल भस्मी ही देह की ऐसी अवस्था है जिसमें देह नहीं होगी और वह अवस्था निश्चित है। वह कोई कल्पना नहीं है।** जब तू स्वयं को भस्मी रूप में देखेगा तो देह हट जाएगी। जब क्षण भर के लिए देह हटेगी तो **'मैं'** की चेतना जाग्रत होगी, उसमें शिव की निहित शक्ति, वैराग जाग्रत हो जाएगा, जो पहले सुषुप्त था, आच्छादित था।

अब उस वैरागमयी चेतनता को लेकर जब तू पुनः देह में आएगा तो वह देह तेरे लिए यथार्थ देह हो जाएगी। वैराग से तेरी अपनी ही पाँचों विभूतियाँ (सौन्दर्य, ऐश्वर्य, ज्ञान, ख्याति एवं शक्ति) प्रस्फुटित होनी आरम्भ हो जाएँगी। देह धारण करके जिन पाँच विभूतियों के लिए जन्मों-जन्मान्तरों से भाग रहा था, वे सारी विभूतियाँ उसी देह से प्रकट होने लगेंगी। देह को भस्मी बनाने और अपने आनन्दस्वरूप में प्रविष्टि के लिए प्रयोग करना ही मानव-देह-धारण का एकमात्र लक्ष्य है। **यह Realisation करके यथार्थ देह में उस अनुभूति का सदुपयोग करते हुए जीवात्मा अनुभूतिगम्य जीवन का आनन्द लेता है।** जिस देह से Realisation की, वह काल्पनिक जन्म-मृत्यु में बँधी देह थी। अब उसी देह में Utilisation करता है। जब जीवात्मा उस अनुभूति का प्रयोग करता है तो वही देह जन्म-मृत्यु से परे हो जाती है। वह सदा-सदा के लिए अमर हो जाती है। वह अदृश्य होती है। जब **'मैं'** जाग्रत होती है, तो वह मानव-देह एक ही समय में सर्वव्यापक हो जाती है। कहीं आती-जाती नहीं। जब भगवान अपने भक्तों के भावानुसार प्रकट होते हैं, तो वे कोई हाड़-माँस की देह में नहीं होते। जिस देह को उन्होंने अधिकृत किया, उसमें खेला वह देह अजर, अमर, अदृश्य, यथार्थ देह होती है। लीला में वे अपने भक्तों को उनके भावानुसार दर्शन दे देते हैं। जब विशुद्ध **'मैं'** जाग्रत हो जाती है तो वह यथार्थ मानस-देह में विचरण करती है। जिसने उसे जिस रूप में ध्याया, उस रूप में वे उन्हें दर्शन दे देते हैं।

जीवात्मा निर्माता नहीं है इसलिए उसकी लीला नहीं है। लीला परमात्मा की है। जब परमात्मा नारायण रूप में लीला करते हैं तो उस जीवात्मा को **'नर'** रूप में वाह-वाह करने के लिए साथ ले लेते हैं। नर भी वही होता है, लेकिन वह असमर्थ व अशक्त रूप में मात्र दृष्टा होता है, प्रशंसक होता है। ***जब वह महाशक्ति मानव*-देह के रूप में अवतरित होती है तब वह देह जन्म-मृत्यु में बँधी देह नहीं होती।** महापुरुष देह से स्वयं को नहीं पहचानते बल्कि वह देह उनसे जुड़ कर स्वयं को धन्य मानती है। वह देह भी परमात्मा की ही तरह **'अमर'** होती है। जब भी भक्त जन उन्हें प्रेम से याद करते हैं तो वह उनके भावानुसार उसी देह के रूप में उन्हें दर्शन देते हैं, उनकी मनोकामनाएँ पूर्ण करते हैं। एक ही समय में वह अनेक भक्तों को उनके भावानुसार विभिन्न स्थूल रूपों में भी दर्शन देते हैं।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(28 मई 2006)

स्रष्टा, सृष्टि एवं दृष्टा

(भाग 4)

आज पुनः इष्ट-कृपा से आप समस्त जिज्ञासुओं के सम्मुख, 2 अप्रैल, 2006 से जो अति सारगर्भित विषय प्रारम्भ हुआ है, उसी की चौथी कड़ी का विमोचन करने जा रहा हूँ। विषय है–'**स्रष्टा, सृष्टि और दृष्टा**'। सद्गुरु भगवान शंकर की कृपा से ही इस विषय का श्रवण एवं कथन हो सकता है। इस व्यास पीठ से आपके सम्मुख जो अध्यात्म प्रस्तुत हुआ है, वह हमने सामान्य मानव-जीवन से लिया है। मैं कोई शास्त्रादि पढ़ा हुआ नहीं हूँ, समस्त विषय अनुभूतिगम्य है। कृपया आप श्रद्धापूर्वक इस विषय का श्रवण करें। आपकी अति-अति एकाग्रता वांछनीय है।

पिछली तीनों कड़ियों में मैंने वर्णन किया था, कि सम्पूर्ण सृष्टि साकार व मायिक है। इसका स्रष्टा (ईश्वर) और दृष्टा (जीवात्मा) दोनों निराकार हैं। दोनों सद्, चेतन व आनन्द का अविरल एवं अकाट्य संगम हैं। मायिक साकार सृष्टि में समस्त निर्माण, पालन एवं संहार स्वयं में शिव-शक्ति-क्रीड़ा का बाह्य प्रकाट्य है। सब कुछ आनन्द में, आनन्द से और आनन्द के लिए ही है। प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान इन पंच-प्राणों के प्रचण्ड ज्योति-पुंज का आधार शिव की निहित अतिशक्ति **वैराग** है। शिव स्वयं में, स्वान्तः सुखाय एवं स्वतः अपनी इस निहित अतिशक्ति वैराग से वैराग द्वारा ही क्रीड़ा करता है। उस अदृश्य वैराग से ही पंच-प्राणों का अदृश्य ज्योति-पुंज प्रकट होता है। पंच-प्राणों के अदृश्य ज्योति-पुंज और शिव के वैराग में क्रीड़ा होती है तब पंच-महाभूतों की साकार सृष्टि का प्रकाट्य होता

है। ये पंच-महाभूत स्वयं में निराकार व सहज जड़ हैं। इन्हें न अपना ज्ञान है और न ही ईश्वर का। लेकिन शिव-शक्ति-क्रीड़ा का सृष्टिपरक बाह्य प्रतिरूप ये पंच-महाभूत ही हैं। इन पंच-महाभूतों की समस्त गतियों तथा इनके विभिन्न अनुपातों कें संगम से निर्मित, पालित व संहारित चराचर सृष्टि का समस्त क्रियान्वयन इनमें समानतः और सम्पूर्णतः समाहित शिव की निहित शक्ति वैराग की प्रतिनिधि अदृश्य भस्मी करती है। **यह वैराग स्वरूप भस्मी, निर्माण के समय अदृश्य रहती है। पालन के समय अदृश्य रहती है। लेकिन संहार के समय जब पंच-महाभूतों में निर्मित कोई वस्तु, प्राणी, पदार्थ अग्नि द्वारा पंच-महाभूतों में विलीन कर दिया जाता है, तो यह अदृश्य भस्मी प्रकट हो जाती है।** यह प्रकट भस्मी शिव की अतिशक्ति वैराग की प्रतिनिधि है, जो यह प्रमाणित करती है, कि मैं **'शिव'** ही पंच-महाभूतों की समस्त सृष्टि में निर्माण, पालन व संहार का एकमात्र कारण हूँ। **भस्मी छटा तत्त्वातीत तत्त्व है, जिस प्रकार कि वैराग ईश्वर की विभूत्यातीत विभूति है।**

पंच-महाभूतों में प्रकट साकार सृष्टि में हम पंच-पुष्प, पंच-रत्न, पंच-प्रसाद, पंच-मेवा, पंच-जोत, पंच-फल, पंच प्रकार के सुगन्धित द्रव्यों आदि से प्रभु की पूजा करते हैं। लेकिन प्रभु के गुण छः हैं—प्राण प्राण, अग्नि रूप में **शक्ति** का, उदान प्राण, जल रूप में **सौन्दर्य** का, अपान प्राण, वायु रूप में **ख्याति** का, समान प्राण, पृथ्वी रूप में **ऐश्वर्य** का तथा व्यान प्राण, आकाश रूप में **ज्ञान** का द्योतक है। प्राण और महाभूत पाँच हैं, लेकिन प्रभु की विभूतियाँ छह हैं, तो यह छटा गुण **'वैराग'** विभूत्यातीत विभूति है। जिस प्रकार कि भस्मी तत्त्वातीत तत्त्व है, यदि यह छटा तत्त्वातीत तत्त्व **'भस्मी'** अधिगृहीत कर लिया जाए, तो प्रभु के छः गुणों का दिग्दर्शन हो जाएगा। लेकिन इसे हम अपने जीवन-काल में जाने-अनजाने उपेक्षित किए रहते हैं। इसीलिए हम शिव के सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति एवं वैराग सभी विभूतियों से **वंचित से** रहते हुए आजीवन ही नहीं जन्म-दर-जन्म भटकते रहते हैं। आज मैं स्रष्टा द्वारा रचाई गई सृष्टि के दृष्टा के रूप में उस महातत्त्व की

चर्चा कर रहा हूँ, जो **'भस्मी'** के समान ही है। यह भस्मी का प्राणवान व जीवित प्रतिनिधि है। यह है—शिव का मानस-पुत्र **'मैं'।** दृष्टा **'मैं'** है, यही जीवात्मा है। **'मैं'** ही समस्त जीवन्त तथाकथित गतिमान, सशक्त और निरन्तर परिवर्तनशील संसार की क्रियान्वयन शक्ति है। यह **'मैं'** पंच-महाभूतों की कोई देह नहीं है, बल्कि भस्मी के समान निराकार है।

'मैं' अदृश्य और व्यापक तत्त्व है। मैं अशोक कुमार हूँ, मैं दिव्या दत्त हूँ, मैं एहसान अली हूँ, मैं गुरप्रीत कौर हूँ। इनमें अशोक कुमार, दिव्या दत्त, एहसान अली, गुरप्रीत कौर नज़र आते हैं, लेकिन **'मैं'** जो सबकी एक ही है वह नज़र नहीं आती। अब कोई पूछे कि आप सब में अशोक कुमार कौन है ? कि **'मैं'।** दिव्या दत्त कौन है? कि **'मैं'।** एहसान अली कौन है? कि **'मैं'।** गुरप्रीत कौर कौन है? कि **'मैं'** हूँ। चारों ने हाथ खड़े करके स्वयं को **'मैं'** कहा और एक ही उत्तर दिया। **'मैं'** अशोक कुमार हूँ इस वक्तव्य में अशोक कुमार Predominent है, **'मैं'** Secondary है। अशोक कुमार कौन है? कि **'मैं'।** यहाँ **'मैं'** Predominent है। **'मैं'** अदृश्य है और अशोक कुमार, दिव्या दत्त, एहसान अली, गुरप्रीत कौर दृश्यमान हैं।

नाम-रूप, जन्म-स्थान, आर्थिक, सामाजिक स्तर, गुण, प्रतिभाएँ, देश-काल, सम्बन्ध, धर्म, जाति, लिंग, आयु आदि सब पृथक्-पृथक् हैं। लेकिन सब **'मैं'** के साथ शोभायमान हैं। कोई स्त्री हो अथवा पुरुष हो, सब अपने साथ **'मैं'** लगाते हैं। अतः मैं **लिंगातीत** है। कोई किसी देश का हो, सब **'मैं'** लगाते हैं, कि मैं भारतवासी हूँ, मैं जापान में रहता हूँ। अतः **'मैं' देशातीत** है। कोई किसी भी धर्म का हो, कि मैं हिन्दू हूँ, मैं मुसलमान हूँ, सभी धर्मावलम्बी अपने साथ **मैं** लगाते हैं। अतः **'मैं' धर्मातीत** है। मैं पिता हूँ, मैं पुत्र हूँ, मैं पति हूँ, मैं इनका मित्र हूँ, मैं इनका पड़ौसी हूँ, सब **'मैं'** लगाते हैं। अतः **'मैं' सम्बन्धातीत** है। **'मैं'** किसी काल से नहीं बँधता, कि मैं सुबह चार बजे उठा था, मैं रात देर से घर आया था, इसलिए दस बजे सो कर उठा। अतः **'मैं' कालातीत** है। मैं बहुत परिश्रम करता हूँ, मैं आजकल काम की तलाश में हूँ, मैं इन्जीनियर हूँ, मैं राजा हूँ, मैं भिखारी हूँ, मैं चपरासी हूँ।

अतः **'मैं' कर्मातीत** है। किसी का किसी से झगड़ा नहीं है। सब अपने साथ **'मैं'** लगा रहे हैं। **'मैं'** निराकार व अदृश्य है लेकिन समस्त साकार और दृश्यमान नाम-रूपों की 'प्राण' है।

जब तक हम अपने साथ **'मैं'** नहीं लगाएँगे, तब तक हम निष्क्रिय व बेजान से होंगे। देह की जिस अवस्था में **'मैं'** को छोड़ेंगे, हम निष्क्रिय होंगे। सुषुप्तावस्था के दौरान हम **'मैं'** को नहीं लगाते, अतः स्वयं में निष्क्रिय होते हैं। ईश्वर का एक नियम है जिसे हम सब जिज्ञासु इष्ट-कृपा से जान सकते हैं, कि **'मैं'** साकार देह के रूप में जब रात्रि में सोता हूँ तो सोने के बाद मैं निराकार हो जाता हूँ। प्रकृति ने एक ऐसा नियम बनाया है, कि जब कोई **'मैं'** के साथ साकार होगा तभी वह सक्रिय होगा, नहीं तो निष्क्रिय होगा। इसलिए **'मैं'** सो रहा हूँ, मैं नहीं कह सकता। कोई आपत्कालीन स्थिति हो और डॉक्टर साहब सो रहे हों, तो उनसे काम लेने के लिए उन्हें **'मैं'** के प्रति जाग्रत करना पड़ेगा। जब वे स्वयं कह सकेंगे, कि मैं अमुक डॉक्टर हूँ, तभी उनका Projection प्रारम्भ होगा और वे स्वयं तथा जगत को प्रकट करेंगे। तभी रोगी का इलाज सम्भव होगा। सोया हुआ डॉक्टर निष्क्रिय है। **हमें सोते समय 'मैं अमुक-अमुक हूँ,' भूल जाना होता है, नहीं तो हम सो नहीं सकते।** इसीलिए **'मैं'** नहीं कह सकता, कि **'मैं'** सोया हुआ हूँ, **'मैं'** मूर्च्छित हूँ, **'मैं'** मृतक हूँ, **'मैं'** विस्मृत अवस्था में हूँ, क्योंकि इन अवस्थाओं में **'मैं'** के बिना देह निष्क्रिय और मृतप्रायः होती है।

जब हमारी देह **'मैं'** की स्थिति में नहीं होगी अथवा जब देह **'मैं'** को छोड़ देगी तो निष्क्रिय होगी, तब हमारे लिए वह देह तथा जगत दोनों ही नहीं होंगे। देह की जिस स्थिति में हम **'मैं'** को छोड़ देते हैं, उन स्थितियों में देह बेकार हो जाती है, चाहे हम राजा, महाराजा, प्रधानमंत्री, राष्ट्रपति क्यों न हों ! चाहे भिखारी, रंक, मज़दूर, नौकर क्यों न हों ! **'मैं'** के बिना न कोई राजा है, न कोई भिखारी। राजा व भिखारी दोनों सो रहे हों, तो वे स्वयं में कुछ नहीं हैं। जब **'मैं'** साथ लगाएँगे तभी राजा, राजा होगा और भिखारी, भिखारी होगा। **'मैं'** के बिना कोई पति नहीं, **'मैं'** के बिना कोई पत्नी नहीं।

'मैं' के बिना कोई रोगी नहीं, **'मैं'** के बिना कोई डॉक्टर नहीं। देह रोगी है, देह डॉक्टर है, देह पति है, देह पत्नी है, देह राजा है, देह भिखारी है। लेकिन सब **'मैं'** से ही स्वयं में शोभायमान और प्रकट होते हैं। **हम सबकी जैसे 'मैं' एक है, उसी प्रकार सबकी 'भस्मी' भी एक है।** भस्मी पंच-महाभूतों की देह में अदृश्य रूप से समाहित तत्त्वातीत तत्त्व है। यही इस चराचर सृष्टि में समस्त निर्माण, पालन व संहार का कारण है। जब पंच-महाभूतों की किसी भी वस्तु अथवा प्राणी का दहन, अग्नि द्वारा होता है, तो अदृश्य भस्मी प्रकट हो जाती है।

हम स्वयं के बारे में कुछ नहीं जानते यद्यपि हम भौतिक जगत में कितनी ही डींग क्यों न मार लें चाहे कोई छत्रपति सम्राट हो, प्रधानमंत्री हो, भिखारी हो, व्यापारी हो, नौकर हो या मालिक हो, जब तक अपने साथ **'मैं'** नहीं लगाएगा, तब तक वह कुछ नहीं कर सकता। वह किसी योग्य नहीं है। हमारी डिग्रियाँ, गुण, प्रतिभाएँ, कलाएँ, धन-सम्पदा **'मैं'** के साथ ही हमारे लिए होती हैं। एक व्यष्टि **'मैं'** है, कि मैं अशोक कुमार हूँ, एक समष्टि **'मैं'** है, कि अशोक कुमार भी **'मैं'** हूँ। यह **'मैं'** का विस्तार है। व्यष्टि **'मैं'** और समष्टि **'मैं'** दोनों को उपेक्षित करके हम नाम-रूप की देह को महत्त्व देते हैं। व्यष्टि **'मैं' अवस्था** है और समष्टि **'मैं'** व्यवस्था है। मेरी नाम-रूप की देह उस **व्यवस्था** का एक अंग मात्र है। अवस्था **'मैं'** की है और व्यवस्था **'मैं'** के लिए है। **जब तक मेरी देह 'मैं' से स्वयं को नहीं पहचानेगी, तब तक उसका कोई मूल्य ही नहीं है। 'अवस्था और व्यवस्था'** शीर्षक प्रवचन में मैंने इसका सविस्तार वर्णन किया है।

हम मानव इस **'मैं'** को उपेक्षित करके देह की डिग्रियों, प्राप्तियों, नाम-यश, पद-प्रतिष्ठा, ज्ञान आदि के लिए भाग रहे हैं। जब तक **'मैं'** नहीं लगेगी, इन सबका लाभ ही क्या है। क्या इस **'मैं'** को पहचानना आवश्यक नहीं है? शेष सब इन्द्रजाल ही तो है, बनता-मिटता रहता है और बनता-मिटता ही रहेगा। कोई कहता है, मैं बहुत खुश हूँ, दूसरा कहता है मैं बहुत परेशान हूँ। किसी की निगाह **'मैं'** पर गई ही नहीं, कि अगर मैं ही

परेशान है और मैं ही खुश है तो यह **'मैं'** क्या है? जीवित देह में एक Common तत्त्व है–**'मैं'** और मृतक देह में Common तत्त्व है–**भस्मी। 'मैं'** जीवात्मा है, निराकार व अदृश्य है। **'मैं' कुछ नहीं है लेकिन दृश्यमान साकार सृष्टि 'मैं' के बिना नहीं है।** जो, जब इसे छोड़ेगा, वह कुछ नहीं रहेगा। **'मैं'** जीवात्मा ईश्वर का इकलौता मानस पुत्र है, जो अदृश्य और निराकार है। लेकिन इसके बिना जगत में कोई क्रिया नहीं होती, सब कुछ निरर्थक रहता है। यह जगत जो जीवात्मा के पिता (ईश्वर) की बनाई सृष्टि है, उसे **'मैं' शब्द रूप में सार्थकता देता है। 'मैं'** की खोज करनी है, यही मानव का एक मात्र कर्म है।

'मैं' जीवात्मा ईश्वर का इकलौता, मानसपुत्र उसी की भाँति स्वयं में सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति और वैराग–इन छः विभूतियों से युक्त है, उसे देह द्वारा हम क्या बना सकते हैं? खेल में **'मैं'** कभी राजा, कभी रंक, कभी मालिक, कभी नौकर, कभी सुखी, कभी दुःखी बनता हूँ। खेल समाप्त हो जाता है तो **'मैं'** पुनः अपनी निराकार एवं अदृश्य अवस्था में आ जाता हूँ। जो देह बनती है, वो **'मैं'** के बिना कुछ नहीं है। **'तू' (परमात्मा) ने 'मैं' (जीवात्मा) को इतना महत्त्व दिया है, कि इसके बिना न कोई अवस्था है, न व्यवस्था है।** अवस्था **'मैं'** हटा देगी तो, अवस्था निष्क्रिय हो जाएगी और व्यवस्था **'मैं'** हटा देगी तो व्यवस्था क्रियाहीन हो जाएगी। एक **'तू',** एक **'मैं'** दोनों का खेल देखो। **'मैं' (जीवात्मा)** निठल्ला, **'तू' (ईश्वर)** की इकलौती सन्तान है, जो मात्र उसकी सृष्टि का रचाया खेल देखकर वाह-वाह करने के लिए है।

इस सृष्टि में अवस्था **'मैं'** बनता है और व्यवस्था भी **'मैं'** बनता है और स्वयं में **'मैं'** न अवस्था है और न व्यवस्था है। जिस समय हम **'मैं'** को लगाने की अवस्था में नहीं होते, उस समय कोई व्यवस्था नहीं होती। मैं वक्ता हूँ और मैं ही श्रोता हूँ। वक्ता रूप में मेरी एक अवस्था है, जिसमें मैं बोल रहा हूँ। व्यवस्था में **'मैं'** अनेक रूपों में श्रोता बनकर सुन रहा हूँ। **'मैं'** अवस्था के रूप में वक्ता एवं व्यवस्था के रूप में श्रोता है। **'मैं'** विभिन्न

श्रोताओं की श्रोता रूप अवस्था के रूप में, वक्ता रूप व्यवस्था है। जब **'मैं'** अवस्था को प्रमाणित करता हूँ, तभी **'मैं'** व्यवस्था को भी प्रमाणित करता हूँ। जब तक **'मैं'** की अवस्था घोषित नहीं करूँगा, व्यवस्था स्वयं में निरर्थक होगी। जैसी अवस्था है, वैसी व्यवस्था है। व्यवस्था, व्यवस्था तभी कहलाती है, जब **'मैं' की अवस्था बनती है। दोनों सापेक्षिक हैं और परिपूरक हैं तथा दोनों का महत्त्व बराबर है।** स्वयं में **'मैं'** न अवस्था है, न व्यवस्था है। अवस्था और व्यवस्था सृष्टि में शिव-शक्ति-क्रीड़ा है। **इस क्रीड़ा के प्रारम्भ व अन्त का 'मूल', अवस्था 'मैं' को दी गई एक नाम-रूप की देह में है।** यदि अवस्था **'मैं'** को झपकी आ जाए, तो वह देह अवस्था और उसकी व्यवस्था (जगत) दोनों का लय हो जाएगा। इस प्रकार **'मैं'** व्यष्टि रूप में अवस्था भी है और समष्टि रूप में व्यवस्था भी है। जो व्यष्टि है, वही समष्टि है। यदि व्यष्टि है, तो समष्टि है। **'व्यष्टि-समष्टि'** शीर्षक प्रवचनों में मैंने इस विषय का सविस्तार वर्णन किया है।

जितनी सृष्टि है, उसमें सक्रियता मेरी वजह से दृष्टिगत होती है। **मैं कुछ नहीं हूँ लेकिन मेरे बिना कुछ नहीं है।** देह की उन्नति व अवनति होती है इसे प्रमाणित **'मैं'** करती है। **'मैं'** की न उन्नति होती है, न अवनति होती है। जिसकी उन्नति या अवनति होती है वह नश्वर है, चली जाएगी। **'मैं'** एस. पी. बन गया, **'मैं'** एस. पी. से डी. आई. जी. फिर आई. जी. बन गया और अब **'मैं'** रिटायर हो गया। क्या **'मैं'** झूठ बोल रही है। एक ही **'मैं'** अलग-अलग वक्तव्य क्यों दे रही है। सारी कहानी **'मैं'** की, **'मैं'** के लिए **'तू'** (ईश्वर) के द्वारा रची गई है। **'मैं' स्वयं में अवस्था व व्यवस्था से परे निराकार व अदृश्य विशुद्ध जीवात्मा है, जो मात्र दृष्टा है। इस साकार सृष्टि का कारण 'तू' परमात्मा है। 'तू' न हो तो सृष्टि में निर्माण, पालन और संहार नहीं होगा और 'मैं' न हूँ, तो उसके निर्माण, पालन व संहार का क्रियान्वयन नहीं होगा।**

हम सबका जीवन जन्म-जन्मान्तरों में व्यर्थ, निरर्थक व नकारात्मक बीत रहा है। न देह पल्ले पड़ी, न **'मैं'** पल्ले पड़ी। ज़िन्दगी समाप्त हो जाती

है। देह, ऑफिस, बंगले, गाड़ियाँ, पद-प्रतिष्ठा सब यहीं रह जाती हैं और उन्हीं की आसक्तियों में हमें नंगा-भूखा छोटा नन्हा सा बच्चा बनाकर पुनः संसार में भेज दिया जाता है। फिर वही सब करो, उन्हीं डिग्रियों, धन-सम्पदा, कोठियों को फिर प्राप्त करो, जो छोड़कर पहले देह त्यागी थी। राजा और भिखारी दोनों की सन्तान नंगी-भूखी ही पैदा होती है और जब मृत देह को लकड़ियों में डाला जाता है, तो डोम कफ़न भी उतार लेता है। इस प्रकार न **'देह'** (सृष्टि) पल्ले पड़ी, न **'मैं'** (जीवात्मा) और न **'तू'** (परमात्मा)। **'मैं'** शास्त्र है, **'तू'** शास्त्र है और **'देह'** भी स्वयं में महापुराण है। फूलों में गुलाब **'मैं'** हूँ, ऋतुओं में वसन्त **'मैं'** हूँ, ये **'मैं'** कब कहेगा, जब वह **'तू'** होगा। यह कृष्ण ही कह सकता है। गुलाब, वसन्त आदि उसकी अवस्था हैं, शेष उसकी व्यवस्था है। अवस्था और व्यवस्था दोनों का निर्माता, पालनकर्ता व संहारकर्ता **'तू'** है। जैसे ही अवस्था का संहार होगा, वैसे ही व्यवस्था भी नहीं रहेगी। **अवस्था के तदानुसार व्यवस्था बदलती रहती है।**

जब हमारी देह में कोई भयंकर रोग होता है, तो शल्य चिकित्सा करने के लिए हमें पहले मूर्च्छित किया जाता है। तब देह तो होती है लेकिन **'मैं'** को छोड़ देती है। तभी सर्जन ऑपरेशन कर पाता है। देह का गला-सड़ा भाग निकाल दिया जाता है, देह स्वस्थ हो जाती है। इसी प्रकार सद्‌गुरु भी पहले हमारी **'मैं'** यानि **'अहं'** को छीनता है। हममें कितने विकार जन्म-जन्मान्तरों से भरे हुए हैं। हम नहीं जानते हैं, कि हम रोगी हैं। **सद्‌गुरु को भी कीर्तन, भजन व बार-बार जाप करवा कर एनैस्थीसिया देना पड़ता है, तभी वह समर्पित व अहंरहित मानसिक भूमि तैयार होगी, जिसमें अध्यात्म का बीजारोपण हो सके।** अहं (मैं देह हूँ) के कारण हम तो अपने विकारों को भी ढकते रहते हैं।

'मैं' के बिना देह का अस्तित्व नहीं है, लेकिन दोनों की आपस में बनती नहीं है। **'मैं'** व्यष्टि है, **'मैं'** समष्टि है। **व्यष्टि 'मैं' के रूप में 'मैं' कहाँ हूँ और समष्टि 'मैं' की दृष्टि से 'मैं' कहाँ हूँ, किस स्तर पर हूँ, इसका मूल्यांकन व्यष्टि देह ही करेगी।** देह भी तो उस सच्चिदानंद परमात्मा की

कृति है, उसका महत्त्व भी स्वयं में कम नहीं है। सृष्टि को परमात्मा ने अधिकार दिया है, कि मेरे बेटे (जीवात्मा) को उसकी स्थिति के बारे में बताते रहना। मैं इसे उदाहरण सहित विस्तार से स्पष्ट करने का प्रयत्न करूँगा, कृपया एकाग्र करें।

व्यापार में 50-50 प्रतिशत के पार्टनर विभिन्न व्यक्तियों से परस्पर व्यापारिक लाभ-हानि के विषय में एक दूसरे के प्रति विचार प्रकट करने का कहा गया। एक ने कहा, कि मेरा लाभ हो, लेकिन मेरे पार्टनर का लाभ मुझसे चाहे चवन्नी ही सही, कम होना चाहिए। यह व्यष्टि **'मैं'** का **Border Line यानि थोड़ा सा पतन है।** दूसरे ने कहा, कि मेरा भरपूर लाभ हो और इसका भी थोड़ा बहुत काम चलता रहे। यह **'मैं'** का और पतन हो गया। तीसरे ने कहा, कि मेरा लाभ अवश्य हो, इसका चाहे नुकसान हो जाए। चौथे ने कहा, मेरा भले ही लाभ न हो, लेकिन इसका नुकसान अवश्य होना चाहिए। इस प्रकार ये व्यष्टि **'मैं'** के पतन की चार अवस्थाएँ हैं जिनके पतन को प्रमाणित देह ने किया। **'मैं'** पतित नहीं हुई, **'मैं'** तो वही रही। पहला **'मैं'** कमीना, दूसरा **'मैं'** महाकमीना, तीसरा **'मैं'** अति कमीना और चौथा **'मैं'** घोर कमीना हो गया। कमीनापन देह का था, लेकिन उपाधि **'मैं'** को लग गई। **'मैं'** सोचने पर विवश हो जाता है, कि कमीनापन देह ने किया, और **'मैं'** कमीना घोषित हो गया। यहाँ **'मैं'** का देह से मोह भंग हो जाता है। **देह** और **'मैं'** में दरार पड़ जाती है।

इसी प्रकार देह के आधार पर **'मैं'** का ऊर्ध्व गमन भी होता है। पहले ने कहा, कि मुझे चाहे चवन्नी लाभ कम हो, लेकिन मेरे पार्टनर का लाभ अवश्य होना चाहिए। दूसरे ने कहा, कि थोड़ा बहुत लाभ मुझे भी हो जाए और इनका लाभ खूब हो। तीसरे ने कहा, कि प्रभु मेरा चाहे थोड़ा बहुत नुकसान भी हो जाए, लेकिन इनका लाभ अवश्य होना चाहिए। चौथे ने समष्टिगत हित की कामना की, कि सबका भला हो—***'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः''*** सबके भले में ही मेरा भी भला है। यहाँ **'मैं' अपनी व्यष्टि 'मैं'** भूल ही जाती है, कि सबमें **'मैं'** भी तो आ जाती है। जब तक हमारी **'मैं'** समष्टिगत **'मैं'** में

विचरण नहीं करेगी, तब तक हम संसार का भोग नहीं कर सकते। **आज 'मैं' इस व्यास पीठ से विश्व में प्रथम बार प्रमोशन या उन्नति की नई अवधारणा दे रहा हूँ, कि 'मैं' का विस्तार ही वास्तविक उन्नति है।** देह-दृष्टि से हम कितनी भी उन्नति कर लें, अन्ततः देह को तो जाना है। **'मैं'** के विस्तार के लिए, हर परिस्थिति, काल, अवस्था, धारणा, मान्यता, कृत्य, राग, मोह, परिवर्तन, पाना-खोना, जन्म-मरण, उन्नति-अवनति, सुख-दुःख, मिलन-विछोह, ऊँचाई-निचाई में **'मैं' के साथ 'तू' लगा दीजिए, कि सब कुछ तेरे (परमात्मा के) कारण है, तब 'मैं' और 'तू' का भेद समाप्त हो जाएगा।** हम जीवन का आनन्द लेंगे। परमात्मा तो समष्टि ही है। उसके साथ जुड़ कर **'मैं'** (जीवात्मा) भी अपने समष्टिगत स्वरूप की अनुभूति कर लेगा। व्यष्टि **'मैं'** का अधः पतन से ऊर्ध्व गमन होते-होते समष्टि **'मैं'** में लय हो जाता है। दोनों वैसे भी एक ही हैं, क्योंकि व्यष्टि के साथ ही समष्टिगत **'मैं** प्रकट होती है और साथ-साथ दोनों का लय हो जाता है।

इस **अधःपतन** और **ऊर्ध्वगमन की निर्णायक देह होती है।** मैं सोचने पर विवश हो जाता हूँ, कि देह आज मेरा मूल्य उच्च आँक रही है, कल मुझे पतित घोषित कर सकती है। तो मैं इससे किनारा क्यों न करूँ। **'मैं'** (जीवात्मा) यहाँ विचार करता है, कि यह देह मेरी वजह से है अथवा मैं इसकी वजह से हूँ। **'मैं'** तो **'मैं'** हूँ। मैं देह के आधार पर ही कहता हूँ, कि देह से पहले भी मैं था और देह के न रहने पर भी मैं रहूँगा। देह न हो तो भी **'मैं'** हूँ और देह हो तो **'मैं'** ही **'मैं'** हूँ। देह की Value मेरी वजह से है और यह अपने आधार पर मेरा अवमूल्यन कर देती है, कि **'मैं'** पापी, **'मैं'** पुण्यी। अरे ! मैंने न कभी कोई पाप किया, न कोई पुण्य किया। मैं निराकार अदृश्य दृष्टा जीवात्मा हूँ। मुझे किसी ने कुछ करते नहीं देखा, देह ने देखा, देह को देखा। **मैं पापी-पुण्यी इसलिए बन गया, क्योंकि मैं भ्रमवश देह के साथ तद्रूप हो गया। स्वयं को देह मान बैठा।** देह के रूप में जो भी **'मैं'** बनता-बनाता हूँ, वह देह के **'मैं'** को छोड़ने पर नहीं रहता। सारी डिग्रियाँ, पद, सम्बन्ध, प्रतिष्ठा, मान-सम्मान, अपमान, शत्रुता-मित्रता, धर्म-कर्म, धन-

सम्पदा बहुत कुछ तो हमारे सामने ही चला जाता है, सुषुप्तावस्था में नहीं रहता, नहीं तो देह के मृतक होने पर तो चला ही जाएगा। देह की वह अवस्था भी अवश्य आएगी। 'हर मिलन का अन्जाम जुदाई है' जो पृथ्वी पर आया है, वह अवश्य जाएगा।

हम जन्म-दर-जन्म देह व देह पर आधारित जगत के लिए संघर्षरत रहते हैं। मानव होने के नाते हमें पूर्ण ज्ञान है, कि देह अवश्य जाएगी। नित्य देह जर्जर होती रहती है, लेकिन हम सावधान नहीं होते। हम सबको देह व उस पर आधारित जगत से सम्बन्धित कोई न कोई चिन्ता लगी रहती है। अति वृद्ध होने पर भी धन-सम्पदा, नाती-पोतों की आसक्तियाँ चिपकी रहती हैं, कि मेरे मरने के बाद उनका क्या होगा? **यदि यह एक चिन्ता किसी को लग जाए, कि मेरे मरने के बाद मेरा क्या होगा? तो उसे कहते हैं 'चिन्ता-ए-मुराद'।** जैसे कि बहू-बेटी कई वर्षों तक गर्भवती न हो और फिर सौभाग्यवश गर्भवती होकर वह कहे कि मेरी तबीयत ठीक नहीं है, तो बुजुर्ग उसे **'मर्ज़े-मुराद'** कहते हैं। इसी प्रकार भगवान की कृपा से किसी को यह चिन्ता लग जाए, कि ज़िन्दगी समाप्त हो रही है पर मेरा क्या हुआ, मैं कहाँ हूँ। मैं तो देह से देह तक ही रहा, मैं एक क्षण के लिए भी देह से परे नहीं हो सका। **'मैं'** ने जीवन में क्या पाया? इसके लिए आत्म-विश्लेषण करके अपना मूल्यांकन करें, कि जीते जी हम कहाँ हैं?

'मैं' ईश्वर अंश उसी की भाँति सच्चिदानंद, कालातीत, देशातीत, लिंगातीत, सम्बन्धातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत, धर्मातीत, मायातीत, अदृश्य व निराकार स्वयं में सहज सुख राशि हूँ। पर मैं अपने उस स्वरूप की अनुभूति नहीं कर सका। जीवित अवस्था में देह की **'मैं'** एक ही है और मृतकावस्था में **'भस्मी'** एक ही है। जब तक जीवन-काल में **'भस्मी' और 'मैं'** एक नहीं होंगे, तब तक देह और **'मैं'** की तद्‌रूपता का भ्रम दूर नहीं होगा। **देह होगी तो भस्मी होगी, लेकिन जब भस्मी होगी, तो देह की आवश्यकता नहीं है।** राजा-रंक, अमीर-ग़रीब, स्त्री-पुरुष सबकी भस्मी एक ही है। अन्ततः इस **'मैं'** को देह के रहते भस्मी के साथ पहचानना होता है,

कि मैं भस्मी हूँ। जब देह मृतक हो जाएगी, तो 'मैं भस्मी हूँ', **'मैं'** नहीं कह पाऊँगा। क्योंकि मृतकावस्था में देह **'मैं'** को पहले ही छोड़ देती है। जीते जी देह से भस्मी की अवधारणा करे, कि **'मैं' भस्मी हूँ। यही देह का धर्म है।** हमारी भस्मी का कोई धर्म नहीं है। **भस्मी देह की वह अवस्था है जो अवस्था देह की नहीं है। 'मैं'** यदि जीते जी, देह के रहते हुए देह की उस अवस्था के साथ स्वयं को पहचानूँ, कि 'मैं भस्मी हूँ', तो अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रविष्टि पा लूँगा। तभी तनिक भ्रमित होकर मैं इस जगत के इन्द्रजाल का आनन्द लूँगा। नहीं तो यह भ्रम मुझे भ्रमित करता हुआ, कभी पापी, कभी पुण्यी बनाता हुआ प्रारब्ध के मायाजाल में घुमाता रहा है और घुमाता रहेगा। देह मिथ्या है, लेकिन मिथ्यात्व का **'सद्'** **'मैं'** (दृष्टा) है। वही **'सद्'** का **'सद्'** **'तू'** है। क्योंकि **'तू'** है, तो **'मैं'** हूँ। **काल** का जो **'सद्'** है वही **अकाल** का **'सद्'** है। इस प्रकार **'असद'** से **'सद्'** में रूपान्तरित होने के लिए **'असद्'** ही सोपान बन जाएगा। इसीलिए मैंने देह को महापुराण की संज्ञा दी है।

हम पैदा हुए हैं, मरेंगे अवश्य। ईश्वर ने अति कृपा करके हमें मानव-देह देकर अपनी चेतनामयी बुद्धि और आनन्दपूर्ण **मन** से पुरस्कृत किया है। **हम पैदा क्यों हुए हैं? हम नहीं जानते। हम नहीं जानते यह हमारा अपराध नहीं है, लेकिन हम जानते-बूझते हुए भी मानव-देह में चेतन बुद्धि का दुरुपयोग कर रहे हैं, यह अपराध है। हमारी 'मैं' वहाँ देह तक ही रहती है।** समस्त वक्तव्य का सार है, कि मानव-बुद्धि में विलक्षणता, दिव्यता और चेतना, भस्मी या वैराग से आती है। बिना भस्मी अथवा वैराग के पुट के अवचेतन बुद्धि, चेतन नहीं होती। जीते जी **'मैं'** और **'भस्मी'** का समन्वय हुए बिना मानवीय बुद्धि में चेतनता नहीं आती। चेतन बुद्धि ही यह सोचेगी, कि देह पर मेरा कोई अधिकार नहीं है। क्योंकि मैं पृथ्वी पर लाया गया हूँ और बिना मेरी जानकारी के यहाँ से निकाल दिया जाऊँगा। जो मैं कर रहा हूँ, वह मेरे बिना भी हो सकता है। जो भी मैं एकत्रित कर रहा हूँ, वह सब चला जाएगा। चाहे मेरे सामने या मेरे बाद। मेरे होश सम्भालने से पहले

मेरी देह के लिए सब कुछ हो रहा था, उसमें मेरी अपनी बुद्धि का कोई योगदान नहीं था। उस होने में मेरी देह व देह पर आधारित जगत भी था। मेरे होश गुम होने के बाद मेरे लिए जो भी होगा, वह स्वतः होगा। अतः मेरी सोच व होश के दौरान भी जो हो रहा है, वह मैं नहीं कर रहा हूँ, वह भी हो रहा है। यह सोचना, कि जो मैं कर रहा हूँ या जो मेरे आस-पास हो रहा है वह किसी और की सोच से हो रहा है, इस सोच के लिए बड़ी उत्कृष्ट सोच होनी चाहिए। यहाँ अवचेतन बुद्धि पूर्णतः समर्पित हो कर चेतन हो जाती है और मानवीय मन लुप्त होकर आनन्दमय ईश्वरीय मन के रूप में अपने मूल स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। दोनों के पारस्परिक समन्वय से होने वाले कृत्य **'सद्'** ही होते हैं।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(9 जुलाई 2006)

स्रष्टा, सृष्टि एवं दृष्टा

(भाग 5)

आज प्रातः कालीन शुभ वेला में आप सब परम जिज्ञासुओं के सम्मुख इष्ट-कृपा से **'स्रष्टा-सृष्टि और दृष्टा'** विषय की पाँचवी और सम्भवतः अन्तिम कड़ी का विमोचन करूँगा। मैं अपने विभिन्न प्रवचनों में अनेक बार संकेत कर चुका हूँ, कि ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचना मानव-देह है, जो उसकी सृष्टि की समस्त मायिक विधाओं का सम्पूर्णतः संघनित रूप है। यह मानव-देह उस **परमात्मा** (**स्रष्टा**) ने अपने एकमात्र मानस-पुत्र **जीवात्मा** (**दृष्टा**) को अपनी परम आनन्दमयी **सृष्टि** का दिग्दर्शन करके उसकी प्रशंसा करने के लिए दी है। यही इस मानव-देह की विशिष्टतम् भूमिका और सार्थकता है।

इष्ट-कृपा से बहुत उच्च कोटि के वैज्ञानिकों के चरणों में बैठकर इस मानव-देह का चिकित्सा-वैज्ञानिक अध्ययन करने का मुझे 9 वर्ष तक सौभाग्य मिला। उन नौ वर्षों की गहनतम् और उच्चतम् शिक्षा प्राप्त करने पर अन्ततः मैं इस निर्णय पर पहुँचा, कि मानव-देह के अध्ययन का यह प्रारम्भ है। **मुझे ऐसे लगा कि जैसे मैंने कुछ पढ़ा ही नहीं है। ऐसा क्यों हुआ होगा? अध्यात्म, रूह से प्रकट होता है। जिसके पीछे मन और बुद्धि का उद्वेग, जलन और क्रान्ति रहती है।** हमने मानव-देह की संरचना, कार्य-प्रणाली, विभिन्न रोगों को जन्म देने वाले विषाणु तथा उनसे प्रभावित देह की विभिन्न स्थितियों का अध्ययन करते हुए उनके उपचार की व्यवस्थाओं का गहन व विस्तृत अध्ययन किया। मृत्यु की विभिन्न विधाओं

के भौतिक व दैहिक कारणों तथा प्रभावों को अपने समक्ष क्रियान्वित होते देखा। इस प्रकार हमने एक मानव-देह का भीतरी ढाँचा, देह की भौतिकी, विभिन्न अंगों की कार्य प्रणाली, हृदय, रक्तचाप, श्वास-प्रश्वास क्रियाएँ, रक्त, हड्डियाँ, माँस पेशियों आदि का सर्वांग अध्ययन किया। हमने पाया कि सम्पूर्ण विश्व में असंख्य मानव जो आज तक हुए हैं, आज हैं और भविष्य में होंगे उनका भीतरी स्थूल ढाँचा लगभग एक जैसा है। धमनियों, शिराओं, नसों, हड्डियों और विभिन्न अंगों का ढाँचा, सिस्टम और कार्य-प्रणालियाँ पूरे विश्व के मानवों का बिल्कुल एक जैसा है, आकार, रंग और साइज़ में थोड़ा-बहुत अन्तर होता है। यदि भारत की माँ नौ महीने में बच्चा पैदा करती है, तो इंग्लिश औरत भी उतना ही समय लेती है। यह नहीं कि वे लोग बड़े व्यस्त और कर्मठ हैं, तो उन्हें ईश्वर कम समय दे। हृदय की गतियाँ, नर्वाइन सिस्टम वही हैं। बैक्टीरिया, रोग के जीवाणु एक जैसे हैं और उनके लिए औषधियाँ भी लगभग वही हैं। **यह सब पढ़ने के बाद एक क्रान्तिकारी विचार उठा, जिसने चिकित्सा विज्ञान को अध्यात्म में रूपान्तरित कर दिया।**

वह क्रान्तिकारी विचार यह था, कि जब सबकी टाँगों का ढाँचा एक जैसा है, तो सबकी चाल अलग-अलग क्यों है? सबके पाँव अलग-अलग दिशा में क्यों चलते हैं? जब हर एक बच्चा लगभग नौ महीने माँ के गर्भ में पलकर जन्म लेता है, तो सबका जीवन-काल पृथक्-पृथक् क्यों है? आँखों की बनावट व कार्य-प्रणाली एक जैसी है, तो सबकी दृष्टि व दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न क्यों हैं? एक ही दृश्य के बारे में सबके विचार अलग-अलग क्यों हैं? कान एक ही जैसे हैं, परन्तु सबको एक बात का अलग-अलग अर्थ क्यों सुनाई देता है? एक ही वस्तु की गन्ध के बारे में सबके विचार बिल्कुल अलग-अलग क्यों होते हैं? त्वचा का स्पर्श और जिह्वा का स्वाद सबका पृथक्-पृथक् क्यों है? एक ही बीमारी के, एक आयुवर्ग के, एक जैसे रोगियों को दी गई एक ही दवाई का प्रभाव सब पर अलग-अलग क्यों है? किसी को पहली डोज़ में आराम आ जाता है, दूसरे को कोई अन्तर नहीं पड़ता, तीसरे

को एलर्जी होकर विपरीत प्रतिक्रिया हो जाती है। दिमाग का ढाँचा, नर्वाइन सिस्टम एक जैसा है, लेकिन सबकी सोच और सोचने का ढंग अलग-अलग क्यों है? हृदय की बनावट, गतियाँ व कार्यप्रणाली एक जैसी है, लेकिन सबकी भावनाएँ और संवेदनाएँ पृथक्-पृथक् क्यों हैं?

मानव-देह के विज्ञान में जो सब कुछ Common और एक जैसा है, उसका बाह्य प्रकटीकरण सबसे अधिक Uncommon है। मैंने सोचा, एक डाक्टर कितनी प्रैक्टिस कर सकता है। यदि वह सौ वर्ष तक जीता है और सौ मरीज़ रोज़ देखता है तो जितने मानव-मरीज़ वह पूरे जीवन में देखेगा, उससे ज्यादा मानव रोज़ विश्व में पैदा हो जाते हैं तो इस प्रैक्टिस का महात्म्य ही क्या है। अतः इस अनेकता की थाह कोई मानव-बुद्धि नहीं पा सकती। यदि हम सागर में से एक बूँद जल लेकर उसका रसायनिक, भौतिक व वैज्ञानिक अध्ययन करें तो जो एक बूँद की विशेषताएँ होंगी, वही समुद्र की भी होंगी। परन्तु यदि हमने एक मानव का ढाँचा, विभिन्न अंगों की कार्य प्रणाली और थोड़ा बहुत स्वभाव आदि का अध्ययन कर लिया तो हम सारे ब्रह्माण्ड के मानवों के स्वभाव या क्रिया-प्रतिक्रियाओं का अध्ययन नहीं कर सकते। **हम अपने स्वयं के बारे में भी तो कुछ नहीं जानते, भौतिक रूप से हमने अपना चेहरा तक नहीं देखा है।** यह जो Universal Diversity है, Absolute Common में जो सब कुछ Uncommon है, इसका कारण क्या है? यही नहीं एक ही मानव की रुचि भी खाने-पीने, देखने, सुनने, सोचने और कार्य करने में विभिन्न परिस्थितियों में, विभिन्न स्थानों पर, विभिन्न आयु वर्ग में दिन-प्रतिदिन परिवर्तित होती रहती है।

अध्यात्मिक दृष्टि से इस पर विचार किया जाए तो हम पाते हैं कि **सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड का 'स्रष्टा' एक ही है।** उसे कहीं किसी नाम-रूप में, कहीं अरूप में माना जाता है, कहीं, नहीं माना जाता, यह बात और है। **इसका दृष्टा भी एक है, वह है ईश्वर का मानस-पुत्र—'जीवात्मा'।** दृश्य (सृष्टि) भी एक ही है। एक ही सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, आकाश आदि हैं। लेकिन उस नज़ारे को देखने का नज़रिया और नज़र अलग-अलग हैं। यह सब

अध्ययन पूर्ण रूप से कोई नहीं कर सकता। यहाँ तक मानव-बुद्धि काम करती है और हम जान जाते हैं कि मानव-देह का सब कुछ भौतिक दृष्टि से एक जैसा होते हुए भी बाह्य प्रकटीकरण अलग-अलग है। Absolute Common में सब कुछ Uncommon है। हम मानव देहधारी हैं, हमें ईश्वर ने समस्त प्राणी-जगत में पृथक् अपनी विशिष्टतम् चेतनामयी बुद्धि दी है। हमें इसका कारण ज्ञात होना चाहिए। **तो जहाँ तक हमारी बुद्धि इस दिशा में सोच सकती है, सोचें और फिर जब इसकी सोच से परे का क्षेत्र आ जाए तो इसका समर्पण कर दें।** हमने मानव-विज्ञान, मानव-देह की भौतिकी का अध्ययन अपने मानव-मस्तिष्क द्वारा किया, जिसकी एक सीमा है। लेकिन इस मानव-मस्तिष्क को बनाने वाला जो ईश्वर है, वह असीम है। **दुर्भाग्य की बात यह है, कि जब हम सीमा पर पहुँच जाते हैं तो हम स्वयं को सीमित मानना व घोषित करना नहीं चाहते।** मानव की उत्कृष्टतम् सोच इसलिए है, कि हम यह सोचें कि हमारे हाथ में कुछ नहीं है।

ईश्वर ने मानव-देह के इस एक ढाँचे में, अनेक मानवों के विभिन्न रूपों में, अपनी समस्त कलात्मकता व सौन्दर्य भर दिया है। इस एक में इतनी अनेकता है, कि जिसकी थाह पाना मानव-बुद्धि से परे का विषय है। **यह जो Uncommon या अनेकरूपता है वह उसका डिज़ाइन है, सौन्दर्य की विविधता है।** ईश्वर की समस्त सृष्टि पंच-महाभूतों में निर्मित है—पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व आकाश। आकाश का एक स्वाभाविक प्राकृतिक सौन्दर्य है—नीलिमामय, स्वच्छ व बादलों से रहित। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि का भी एक स्वाभाविक स्वरूप है। लेकिन इन पंच-महाभूतों का अपना मूल स्वरूप भी नित्य बदल जाता है। जिसके हाथ में ये सब परिवर्तन हैं, उसी ने एक मानव को दूसरे से भिन्न कर दिया है और एक ही मानव को भी पृथक्-पृथक् परिस्थिति व स्थानों में भिन्न कर दिया है। **सौन्दर्य के सम्वर्द्धन और भिन्न प्रस्तुति के लिए ईश्वर ने यह एक में अनेकता रखी है ताकि उसकी व क्षमताओं की जो हमारी सोच से परे हैं, कम से कम हम प्रशंसा तो कर सकें।** रोज़ आकाश यदि एक ही जैसा नीलिमामय अथवा

बादलों से आच्छादित स्वरूप में दिखे तो हमें वह एकरसता रुचिकर नहीं होगी। इसी प्रकार पृथ्वी में भी नित्य नया अलंकरण होता है। आकाश, पृथ्वी, वायु, जल, अग्नि आदि का एक मूल प्राकृतिक सौन्दर्यमय स्वरूप है। उस सौन्दर्यमय स्वरूप को और अधिक शोभायमान करने के लिए प्रकृति विभिन्न प्रकारों से घटाओं द्वारा उसमें नित्य नूतन परिवर्तन करती है। जिस प्रकार कि एक सुन्दर स्त्री स्वयं को अलंकारों से सजाती है, लेकिन इस अलंकरण में शरीर का उतना वास्तविक भाग जहाँ अलंकार धारण किए गए हैं, वह आच्छादित हो जाता है। **अलंकरण में आच्छादन अवश्य होता है।**

प्रत्येक मानव, देह के ढाँचे और विभिन्न अंगों की कार्य-प्रणालियों की दृष्टि से एक ही है, लेकिन प्रस्तुतियाँ बिल्कुल पृथक्-पृथक् हैं। तो जिन लोगों से हम एकरस होते हैं, जिनकी दृष्टि, दृष्टिकोण, सुनने का ढंग, खाने-पीने की रुचियाँ, सोचने का ढंग हमारे जैसा होता है, उन्हें हम पसन्द करते हैं, नहीं तो पसन्द नहीं करते। चाहे वे हमारे परिवार के लोग ही क्यों न हों। न केवल पसन्द ही नहीं करते, बल्कि उनकी आलोचना, प्रत्यालोचना भी करते हैं। **यह भिन्नता वस्तुतः ईश्वर के सौन्दर्य-सम्वर्द्धन और अलंकरण का प्रारूप है, जिसे हम समझ नहीं पाते और अक्सर तनावित और दुःखी हो जाते हैं।** हमारी बुद्धि के ९९ प्रतिशत तनाव इसी कारण होते हैं, कि हम जो चाहते हैं उसके अनुरूप नहीं पाते। हम भूल जाते हैं कि ईश्वर हमारे विचारों से बँधा हुआ नहीं है, यह समस्त भिन्नता और अनेकता ईश्वर के सौन्दर्य की बहुमुखी प्रस्तुतियाँ हैं। तो हम अपने विचारों और अपनी सोच का समर्पण कर उसके द्वारा जो भी प्रस्तुतियाँ हों, उसका आनन्द क्यों न लें?

विषय चल रहा है **'स्रष्टा, सृष्टि और दृष्टा'।** मानव होने के नाते हमारी स्थिति क्या है? हम स्रष्टा तो हैं नहीं और देह के रूप में हम दृष्टा भी नहीं हैं। सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड का दृष्टा एक ही है। **'मैं'** शिवकुमार, देह के रूप में दृष्टा हूँ, आप सबको देख रहा हूँ। आप सब भी स्वयं को एक देह मानें तो सबको देख रहे हैं। लेकिन यह देहधारी दृष्टा अपने अतिरिक्त सबको

देखता है। आजतक किसी ने अपना चेहरा नहीं देखा है। दर्पण में हमें अपनी उल्टी शकल दिखाई देती है। जो सबको देखता है, उसने स्वयं को नहीं देखा। **सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड का वास्तविक दृष्टा वह है जो दृष्टा और दृश्य दोनों को देखता है।** देह की हैसियत से वह **'मैं'** नहीं हूँ। व्यक्तिगत रूप से हम सब स्वयं को दृष्टा मानते हैं, लेकिन हमने जब स्वयं को नहीं देखा तो दृष्टा कैसे हुए? वास्तव में दृष्टा **'जीवात्मा'** है, जो एक ही है।

मानव को ईश्वर ने अपनी चेतना रूप में उत्कृष्टतम् और विलक्षणतम् बुद्धि इसलिए दी थी, कि इस दिव्यतम् बुद्धि से वह अपने स्वयं के विषय में कुछ तथ्यों के प्रति आश्वस्त हो जाए। **पहला,** हम इस पृथ्वी पर आये नहीं हैं बल्कि लाये गये हैं। जब भी ईश्वर चाहेगा, हमें पृथ्वी से निकाल देगा। यदि हम पृथ्वी पर स्वयं आते तो कई महीने तो मुहूर्त निकलवाने में लग जाते, क्योंकि हर बात में हम ब्राह्मणों से मुहूर्त निकलवाते हैं। यहाँ समस्त प्रशासन परमेश्वर का है। तथाकथित हमारी देह व बुद्धि दोनों पर भी अधिपत्य ईश्वर का ही है। **दूसरा,** जो भी हम कर रहे हैं, वह हमारे बिना भी अधिक उत्कृष्ट व सुन्दर रूप में हो सकता है। जो यह सोचते हैं, कि मेरे बिना कोई कार्य कैसे हो सकता है, उन्हें स्वयं में आश्वस्त हो जाना चाहिए, कि उनके मरने के बाद अथवा जीते जी उस कार्य से हटने के बाद, वह कार्य अत्यधिक अच्छा **होगा ही। तीसरा,** जो होश सम्भालते ही हम एकत्रित कर रहे हैं अथवा करना चाहते हैं, वह सब हमारे सामने ही छिन जाएगा, नहीं तो मरने के बाद तो **छिनेगा ही।** अतः हम भौतिक शक्तियाँ, पदार्थ, पद-प्रतिष्ठा, नाम-यश, सम्बन्ध, मित्र-शत्रु, धन-दौलत, मकान-बंगले जो भी एकत्रित कर रहे हैं या करना चाहते हैं, उसमें से अधिकांश हमारे सामने छूट जाते हैं अन्यथा देह छूटने के बाद छूट जाते हैं। मरने के बाद हमारी भस्मी भी उस सुन्दर बंगले में नहीं लाई जाती, जिसे हम बहुत जुगाड़ करके बनाते हैं। लेकिन फिर भी हम सारा ज़ोर, धन-सम्पत्ति एकत्रित करने पर लगा देते हैं, उसकी वसीयत तक करते हैं, कि मेरे मरने के बाद मेरी अमुक सम्पत्ति, मेरे अमुक बेटे या बेटी को मिले। मरने के बाद वह धन-सम्पत्ति हमारी कहाँ रही! क्या हम यह वसीयत कर सकते हैं, कि मरने

के बाद मेरी खूबसूरती, प्रतिभाएँ, डिग्रियाँ, कलाएँ किसी को दे दी जाएँ? केवल हम धन-सम्पत्ति के विषय में चिन्तित रहते हुए उसकी वसीयत करते हैं और उसी की आसक्ति लेकर देह त्याग देते हैं। हिन्दी और संस्कृत में तो Will या वसीयत के लिए कोई शब्द ही नहीं है। हमारे मनीषियों ने इसे उत्तराधिकार नाम दिया है, जो जीते जी उचित समय पर उचित सुपात्र को दिया जाता है; जिससे एक निश्चित अवस्था में हम स्वतन्त्र होकर आत्मचिन्तन कर सकें।

चौथा, जीवन में एक विशेष समय पर बुद्धि का विकास होना प्रारम्भ होता है। उसके बाद बुद्धि पूर्ण विकसित तथा परिपक्व होती है। फिर बुद्धि क्षीण होनी प्रारम्भ हो जाती है। जब हम परिपक्व बुद्धि से संयुक्त होते हैं, उस समय सोचें, कि मेरी बुद्धि विकसित होने से पहले मेरे लिए सब कुछ स्वतः ईश्वरीय-इच्छा में हुआ था। न मैं सोचकर पैदा हुआ, न मेरी सोच से मुझे माँ-बाप, घर-परिवार, स्कूल, आस-पड़ौस, संगी-साथी मिले। जब माँ के गर्भ में मेरे लिए गर्भाधान हुआ, उस बिन्दु रूप भ्रूण में मेरे जन्म से लेकर मृत्योपरान्त अस्थि-विसर्जन तक सब कुछ जीवन्त रूप में अंकित था। मेरे होश गवाँने के बाद जब मेरी बुद्धि गुम हो जाएगी, तब भी मेरे लिए सब कुछ होगा। न मेरी सोच से मेरी अर्थी बनेगी, न कन्धा देने वाले निश्चित होंगे, न मेरी सोच से मेरी भस्मी को गंगा या यमुना में डाला जाएगा। इस प्रकार मेरी सोच के परिपक्व होने से पहले सब कुछ मेरे लिए बिना मेरे सोचे हुआ और मेरी बुद्धि गुम होने के बाद भी होगा। **मेरे होश के दौरान भी सब कुछ हो रहा है, लेकिन मैं भ्रमवश, अज्ञानवश, जाने-अनजाने में यह समझ रहा हूँ, कि मैं कर रहा हूँ।** चेतन बुद्धि वही है जो यह सोचे, कि मेरे हाथ में कुछ नहीं है। स्रष्टा की रचाई सृष्टि में सब क्रियाएँ स्वयं व स्वतः हो रही हैं। **मानव को ईश्वरीय चेतनायुक्त बुद्धि मात्र इसीलिए मिली है, कि वह सोचे, सोचे और सोचे, कि मेरे लिए कोई और सोच रहा है।** जो ईश्वर सोच रहा है, वही होता है। मेरी अपनी सोच से कुछ नहीं होता। जब मानव यह सोचेगा, तभी समर्पित बुद्धि से ईश्वर की वाह-वाह करेगा।

अहंयुक्त बुद्धि कभी वाह-वाह नहीं कर सकती है। जो बुद्धि Surrender (समर्पित) नहीं होती, वह Blunder करती है और जीवन में अनेक बवण्डर होते हैं। हमारी अपनी सोच और उसका अहंयुक्त क्रियान्वयन Blunder व बवण्डर कैसे बनता है, इसका मैंने सविस्तार वर्णन **'प्राप्ति और भोग'** तथा **'मानवीय बुद्धि की सार्थकता'** शीर्षक प्रवचनों में किया है। हमें पाश्चात्यानुगमन रोकना होगा। भारत में भले ही किसी दल विशेष की सरकार हो, लेकिन यहाँ शासन **'ईश्वर'** का ही होता है। इसलिए आज भी पूरे विश्व में आध्यात्मिक दृष्टि से भारत ही जगद्‌गुरु व परम ऐश्वर्यवान देश है। बड़े-बड़े पाश्चात्य राजनीतिज्ञ यहाँ आए और आश्चर्यचकित रह गए, कि यह देश कैसे चल रहा है ! यहाँ अदृश्य रूप में **'ईश्वर'** की ही सरकार है।

ईश्वर प्रदत्त चेतना युक्त बुद्धि से यदि हम मानव उपर्युक्त तथ्य अपने जीवन में धारण कर लेते, तो बहुत ही आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकते थे। ईश्वर की सृष्टि के रहस्यों को हृदयंगम करने के लिए हमारी बुद्धि का ईश्वर से जुड़ा होना परमावश्यक है। महादुर्भाग्य है, कि इतनी उत्कृष्टतम्, विलक्षणतम् व ईश्वरीय चेतनायुक्त बुद्धि प्राप्त करके भी हमने इन तथ्यों के विषय में कभी नहीं सोचा। **हमने ईश्वर प्रदत्त चेतन बुद्धि का न केवल मिस यूज़ किया बल्कि डिस यूज़ किया।** इसीलिए सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में मानव ही समस्त प्राणी जगत में सबसे अधिक त्रसित, भयभीत, तनावित, रुग्ण तथा अनेकानेक दोषों व रोगों से घिरा हुआ है। **ईश्वरीय चेतना युक्त सोच तो मात्र यही सोचती है, कि मेरे हाथ में कुछ नहीं है, पहले भी ईश्वर ही मेरे लिए सोच रहा था और अब भी ईश्वर ही सब कुछ मेरे लिए कर रहा है। जो भी कार्य ईश्वरीय सोच से होते हैं, वे स्वतः होते हैं और प्रारम्भ, मध्य व अन्त के तीनों आनन्दों से युक्त होते हैं।**

जो कार्य हमारी अपनी अवचेतनामयी सोच से होते हैं, मैंने उनके लिए Blunder शब्द का प्रयोग किया है, क्योंकि हमने अहंवश, अज्ञानवश अपनी इस सोच का Surrender नहीं किया। हमारा जीवन इसीलिए अनेकानेक

बवण्डरों से घिरा रहता है। जब हम सोच पर अधिपत्य कर लेंगे, कि यह मेरी सोच है, तो वह सोच प्रकट होने से पहले ही हमारी देह की समस्त Physiology को असन्तुलित कर देगी। हमारा तन्त्रिका-तन्त्र एवं हारमोनिक कार्यप्रणाली अस्त-व्यस्त हो जाएगी। हमारा रक्तचाप उच्च अथवा नीचा होना प्रारम्भ हो जाएगा। वह सोच अनेक निरर्थक, व्यर्थ व अनर्थकारी सोचों को जन्म देगी, कि कहीं यह न हो जाए, वह न हो जाए। जब तक वह सोच हमारे भीतर रहेगी, देह के सारे अन्तर्जगत को घुन की तरह खाती रहेगी। ईर्ष्या, द्वेष, जलन, दुःख, तनाव, भय, लालच, उत्तेजना आदि उस सोच के साथ लगे रहेंगे।

उसके बाद हमने उस सोच को बाह्य जगत में प्रकट किया। उस सोच के क्रियान्वयन या प्राप्ति के लिए बाह्य जगत में कार्य हमारे द्वारा होंगे तो वे सोच के साथ लगे चिन्ता, भय, तनाव आदि सारे अंगो से घिरे रहेंगे। **सोच आने पर जो भय, चिन्ता, तनाव, ईर्ष्या, द्वेष, जलन आदि हमारी देह को लगे थे, वे अब उन कृत्यों को लग जाएँगे।** हम स्वयं अपने कृत्यों का विश्लेषण करें कि क्या हम आनन्दपूर्वक स्वतः भाव में कार्य कर रहे हैं अथवा खींचतान में इन उपर्युक्त अंगों के साथ कार्यरत हैं। इस के बाद हमने यदि जो प्राप्त करना चाहा था, वह प्राप्त कर भी लिया, तो वह कार्य तो समाप्त हो जाएगा, लेकिन वे सारे अंग उस प्राप्ति के साथ चिपके रहेंगे। उसका हम कभी भी भोग नहीं कर सकते।

मैं डॉक्टर की हैसियत से बता रहा हूँ, कि हमारी देह के गठिया, टैन्शन, मधुमेय आदि समस्त रोगों का कारण हमारी दूषित वृत्तियाँ और अवचेतनामयी सोचें ही हैं। कुछ वृत्तियों का वर्णन मैंने पहले भी किया था आज भी पुनः नए आयाम में उनका वर्णन कर रहा हूँ। जैसे **Sense of responsibility with Indispensibility, कि मेरे बिना यह कार्य कैसे होगा, मेरा कोई विकल्प है ही नहीं, यह वृत्ति मधुमेह या डायबिटीज़ की जननी है।** हम अक्सर कहते हैं, कि अमुक व्यक्ति को डायबिटीज़ है। आज मैं Diabetic Actions बता रहा हूँ। कार्य करते समय जब यह भाव हो,

कि सारा माल मैं ही एकत्र कर लूँ, मेरे घर में ही सारा पैसा आ जाए, तो वह कार्य डायबेटिक है। जिस कार्य के विषय में सोचते ही हृदयगति रुकने सी लगे, उसके क्रियान्वयन में समाज को Heart Attack होगा। सभी उससे विक्षिप्त होकर एकदम मारने को दौड़ेंगे। यह सोच और एक्शन का Heart Attack है। जब हमारी सोच को आर्थराइटिस होगा, तो हर व्यक्ति हमारी टाँगे खींचेगा। हर व्यक्ति हमारे लिए सिरदर्दी व तनाव का हेतु बनेगा। हमें सोच के क्रियान्वयन में बहुत-बहुत संघर्ष करना पड़ेगा। यह कार्य-प्रणाली का आर्थराइटिस है। जब हमें लगे कि अमुक व्यक्ति को तो मैंने बहुत अच्छा समझा था, परन्तु यही मेरी जड़ों में तेल डाल रहा है। तो समझो हमारे उस कार्य को आर्थराइटिस हो गया। इसी प्रकार देह की अधिकतर बीमारियाँ हमारी अपनी अहंयुक्त बुद्धि की सोचों का परिणाम होती हैं। हमें पूर्णतः ज्ञान है, कि हम अपनी सोच से न पैदा हुए हैं, न घर-परिवार, पति-पत्नी, बच्चे आदि हमारी सोच से हुए हैं। लेकिन फिर भी हम अपनी बुद्धि का Surrender नहीं करते। इसलिए ये Blunder और बंवडर होते हैं। इस प्रकार हमारी अपनी सोच, विभिन्न कार्य तथा उनके तहत प्राप्तियाँ अथवा खोना, चाहे सोच के अनुपात से कम या अधिक, जैसे भी हों सब प्रकार से रुग्ण ही होते हैं।

मूलतः प्रभु-प्रदत्त **सोच ईश्वरीय चेतना थी** और **हमने देह के साथ तद्रूप होकर उसे अवचेतनामयी बना दिया। चेतनामयी बुद्धि के अवचेतन बनते ही हमारा शान्त, स्थिर व सशक्त ईश्वरीय मन, अस्थिर, अशान्त व अशक्त मानवीय मन बन गया।** मानव को मानव-देह देकर उस सच्चिदानंद पारब्रह्म परमेश्वर ने अपनी सद्, चेतन व आनन्द तीनों विधाओं से नवाज़ा था। मूलतः मानव-मन ईश्वर के आनन्द का स्रोत व प्रतीक था और मानव-बुद्धि ईश्वरीय चेतना की द्योतक थी। इन दोनों के पारस्परिक समन्वय से होने वाले कृत्य **'सद्'** ही होते। जब मन आनन्दित होगा और बुद्धि चेतन होगी, तो इनमें स्वतः समन्वय ही होगा, वहाँ सद् का ही प्राकट्य होगा। **'सद्'** के लिए कोई अंग्रेजी शब्द नहीं है। पाश्चात्य जगत में **'सद्'** की कोई धारणा ही नहीं है। क्योंकि वहाँ मन-बुद्धि का कभी

सामंजस्य नहीं होता। वहाँ बुद्धि चेतन नहीं, बल्कि अहंयुक्त अवचेतन बुद्धि होती है और अस्थिर, अशान्त व अशक्त मानवीय-मन होता है। गृहस्थ में पति-पत्नी में पारस्परिक समन्वय का अक्सर अभाव रहता है। इसलिए उनके सम्बन्धों में विश्रृंखलता का प्रकाट्य घर-घर में देखा जा सकता है। सब कुछ अस्त-व्यस्त होता है, हर छः महीने बाद बच्चों के स्कूल, घर, नौकरी, नौकर आदि बदलते रहते हैं। ये अदलाबदली, न्यूरोसिस, साइकोसिस, **तनाव आदि मन-बुद्धि रूप में पति-पत्नी के पारस्परिक 'डिस्को-रिलेशन' के द्योतक हैं।** ये डिस्को आजकल घर-घर में मिलता है, क्योंकि सभी लोग बहुत बुद्धिजीवी हो गए हैं और यही मानव के समस्त दुःखों का कारण है।

'अध्यात्म' मानव बुद्धि की पकड़ का विषय नहीं है। हमारी बुद्धि एक सीमा तक ही कार्य कर सकती है। उसके बाद मानव-बुद्धि की सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं। मैं पैदा क्यों हुआ? मैं नहीं जानता। मेरे ये माता-पिता, यह घर-परिवार क्यों है, मैं नहीं जानता। मानव-बुद्धि से उठे हुए न तो ये प्रश्न हैं और न ही इनके उत्तर कोई मानव-बुद्धि दे सकती है। इस समर्पण भाव से मानव में जिज्ञासा पैदा होती है कि असंख्य मानव विश्व में रोज़ पैदा होते हैं, वे एक जैसे ही दिखते हुए परस्पर भिन्न-भिन्न क्यों हैं? मैं स्वयं रोज़ अपने में भिन्न-भिन्न क्यों होता हूँ? **मुझे मानव-देह क्यों मिली है, यह विचार जब क्रान्ति के रूप में मानव मन, मस्तिष्क में कौंधने लगता है, वहाँ से मानव-देह में मानव-जीवन प्रारम्भ हो जाता है।** यह विचार जीवन के पूर्वार्द्ध में, मध्य में, उत्तरार्द्ध में कभी भी प्रभु-कृपा से ही उठता है कि मैं मानव-देह धारण करके पशुओं से किस प्रकार भिन्न हूँ। जहाँ तक जीवन के लिए जीवन जीने का प्रश्न है, तो उसके लिए बहुत कार्यों की आवश्यकता नहीं है। लेकिन हमने अपना लक्ष्य ही वह बना लिया है। पशु-पक्षी भी जीवन के लिए जीते हैं, लेकिन चैन से सोते हैं, आमोद-प्रमोद भी करते हैं और संग्रह-वृत्ति नहीं रखते।

हमारी समस्त भौतिक, बौद्धिक व मानसिक शक्तियाँ जब इस दिशा में

सक्रिय होती हैं कि 'जीवन काहे के लिए है' तभी हम मानव कहलाने के अधिकारी होते हैं। **हम जीवन-काल में वह लक्ष्य पा सकें या न पा सकें, लेकिन इस ओर प्रेरित होना मानव-जीवन का कर्म है, इसी में हमारा हित है।** मानव-देह प्रारब्धवश मिलती है। महाब्रह्माण्डों का स्रष्टा ईश्वर है। सच्चिदानंद परमात्मा निराकार में भी द्वैत में विचरता है—स्रष्टा बनकर सृष्टि का निर्माण, पालन व संहार करता है। इस आनंदमय निर्माण, पालन व संहार को देखने के लिए उसने अपने मानस-पुत्र जीवात्मा को प्रकट किया। वह भी उसी की भाँति सच्चिदानंद और छः विभूतियों से युक्त है तथा निराकार व अदृश्य है। **जिस प्रकार सृष्टि का रचयिता, पालनकर्ता व संहारकर्ता ब्रह्माण्डातीत है। उसी प्रकार जीवात्मा भी ब्रह्माण्डातीत है। स्रष्टा और दृष्टा दोनों ब्रह्माण्डातीत हैं। इस महा ब्रह्माण्ड की समस्त सृष्टि के निर्माण, पालन और संहार तीन धर्म हैं।** सृष्टि का प्रारम्भारम्भ निराकार है और अन्तान्त भी निराकार है। दृश्यमान सृष्टि के दिग्दर्शन हेतु ईश्वर ने अपने मानस-पुत्र जीवात्मा के लिए सर्वोत्कृष्ट मानव-देह निर्मित की। जीवात्मा, स्वयं में परमात्मा का अंश उसी की भाँति होते हुए भी परमात्मा द्वारा रचित सृष्टि का रचनाकार नहीं है, पालित सृष्टि का पालनकर्ता नहीं है और संहारित सृष्टि का संहारकर्ता भी नहीं है।

सृष्टि साकार व दृश्यमान है। पंच-महाभूतों में रचा गया खेल या प्रपंच है। इसमें सर्वोत्कृष्ट रचना मानव-देह है, जो जीवात्मा के लिए परमात्मा ने बनाई है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के समस्त भौतिक तत्त्व, आकाश, जल, पृथ्वी, वायु व अग्नि के समस्त तत्त्वों को अंश रूप में संघनित करके मानव-देह में समाहित किया गया है। समस्त दृश्यमान कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों की प्रतिनिधि एक मानव-देह है। सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड एक मानव-देह का बाह्य प्रकाट्य है, यदि यह कहा जाए तो इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

मानव-देह में जो प्राण-शक्ति है, वह शिव का वैराग है। प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान—पाँचों प्राणों की ज्योति, शिव के वैराग से ही प्रकट होती है। पंच-प्राणों की ज्योति महाशक्ति है और वैराग अतिशक्ति है, जो

इस ज्योति का आधार है। शिव शक्तिमय है। संसार महानाट्यशाला में शिव-शक्ति क्रीड़ा का साकार प्रकाट्य पंच-महाभूतों की सृष्टि के रूप में होता है। जिस प्रकार पंच-प्राणों की ज्योति का आधार शिव का वैराग है, उसी प्रकार पंच-महाभूतों में प्राण-शक्ति शिव का वैराग है, जो अदृश्य भस्मी के रूप में पंच-महाभूतों के कण-कण में समाहित रहता है।

उदाहरणतः मणि वाला सर्प अपनी मणि को बाहर निकाल कर खेलता है फिर मणि को स्वयं में समाहित कर लेता है। इसी प्रकार शिव की पंच-प्राणों की शक्ति, शिव के वैराग के कारण खेलती है। **शक्ति का शिव के वैराग के बिना अस्तित्व ही नहीं है। शिव का वैराग ही शिव का स्वरूप है।** खेलने के लिए वह पंच-प्राणों की ज्योति प्रकट करता है। शिव का वैराग इस अदृश्य ज्योति को खिलाता है। **यह शिव और शक्ति क्रीड़ा नहीं है। यह शिव शक्ति क्रीड़ा है।** शिव अपने वैराग में समाहित अति शक्ति से पंच-प्राणों की शक्ति को प्रकट करता है।

जीवात्मा दृष्टा है। जो दिखाई दे रहा है वह दृश्य है, इसे सृष्टि कहते हैं। साकार मानव-देह रूप में एक दृष्टा और समस्त साकार दृश्य दोनों मिलकर सृष्टि बनती है। **निराकार व अदृश्य दृष्टा जीवात्मा स्वयं के साथ सबको देखता है, इसलिए वह दृष्टा है। साकार देह के रूप में दृष्टा कभी स्वयं को नहीं देख सकता।** यह बात प्रत्येक मानव-देह के विषय में सत्य है। जो हम में से प्रत्येक देख रहा है और सोच रहा है वह भूत, भविष्य व वर्तमान सहित उस समय की उसके लिए सृष्टि है।

आप सब एक अपनी स्वयं की देह को लेकर चलें। अपने नाम को गिरधारी लाल मान लें। आपसे परिचय पूछा गया, तो आपने बताया कि 'मैं गिरधारी लाल हूँ'। पूछने वाले ने पुनः पूछा, 'गिरधारी लाल आप ही हैं, कि हाँ ! **गिरधारी लाल 'मैं' ही हूँ।'** लेकिन आपकी **'मैं'** से जब पूछा गया, कि आप कौन हैं, तो जवाब मिला, कि **'मैं' गिरधारी लाल भी हूँ** और **'मैं'** ने अनेक नाम-रूप बता दिए, कि **'मैं'** शिवकुमार भी हूँ। अब गिरधारी लाल का **'मैं'** से झगड़ा हो गया। **'मैं'** अपनी जगह ठीक हो सकती है, लेकिन फिर

भी गिरधारी लाल **'मैं'** ही हूँ। यह देह और **'मैं'** का झगड़ा है, ईश्वर से दुआ करिए, कि ऐसा झगड़ा सबका हो जाए। ये **'झगड़ा-ए-मुराद'** है। पूछने वाले ने आपसे पूछा कि आप गिरधारी लाल कब से हैं। आप यही उत्तर देंगे कि जब से मेरा नाम रखा गया मैं गिरधारी लाल **ही** हूँ, लेकिन आपकी **'मैं'** कहेगी कि जब से इन्होंने स्वयं को अपनी देह के साथ पहचाना, तब से यह अपने साथ मुझे लगाते हैं। **'मैं'** पहले भी थी, लेकिन प्रकट नहीं थी। **'मैं'** बोलने में नहीं आती थी। यह जब सोते हैं, तो भी **'मैं'** बोलने में नहीं आती। यह जब प्रकट होते हैं तभी **'मैं'** प्रकट होती हूँ।

'मैं' ठीक कह रही है, कि मैं ये भी हूँ, मैं वो भी हूँ। लेकिन हमने स्वयं को एक नाम-रूप से बाँध कर अपनी **'मैं'** को अपनी तरह संकीर्ण कर दिया, कि मैं गिरधारी लाल ही हूँ। **ये 'मैं' व्यष्टि 'मैं' है, इसे अहं या अहंकार कहा जाता है।** जहाँ हमने अपनी एक देह के साथ **'मैं'** लगाई, तो उसका समष्टिगत् विश्व रूप भूल गए। हम समुद्र में बूँद भी नहीं रहे। अरे ! हमने अपनी समष्टिगत् **'मैं'** को अहंवश उस नश्वर व तुच्छ देह के साथ चिपका रखा है, जो देह एक दिन नहीं थी और एक दिन नहीं रहेगी और जीवन-काल में भी हर क्षण रूप बदलती रहती है। लेकिन **मैं' का शब्द-रूप में प्रकटीकरण व्यष्टि देह के कारण ही होता है। साथ ही साथ समष्टिगत् जगत भी प्रकट हो जाता है।** जब हम सोते है तो वह देह तथा जगत लीन हो जाते हैं और हम निराकार हो जाते हैं। हमारे लिए न व्यष्टि देह रहती है, न समष्टि जगत। सद्‌गुरु पूछता है कि गिरधारी लाल जी कल रात आप कितने घण्टे सोए? कि आठ घण्टे सोया। आपने कोई स्वप्न भी देखा होगा। आपको वह सपना रात कितने बजे आया। सोने के कितनी देर बाद आपने स्वप्न देखा और वह सपना कितनी देर चला? गिरधारी लाल कुछ भ्रमित से हुए और बोले, कि जी यह तो पता नहीं, लेकिन स्वप्न में मैं अपने मित्रों के साथ लंदन गया था। वहाँ दो महीने रहकर फिर वापिस आया। सद्‌गुरु ने कहा अरे ! तुम कुल आठ घण्टे सोए और मान लो सपना आठ घण्टे लगातार भी चला हो तो दो महीने का समय कहीं कैसे बिता आए? सद्‌गुरु

ने भ्रम का निवारण करने के लिए कहा, गिरधारी लाल अपने साथियों को फोन करो और पूछो वे तुम्हारे साथ लंदन गए थे? गिरधारी लाल फोन करता है तो पता चला कि उनमें से कोई भी उसके साथ नहीं था। सद्‌गुरु कहता है, कि अब तुम उस गिरधारी लाल को फोन करो जो लंदन गया था। **कि वो तो मैं ही हूँ।** सद्‌गुरु कहता है, कि यदि तुम्हीं वो गिरधारीलाल हो, तो लंदन जाने वाले तुम्हारे सब साथी भी तुम्हीं थे। **यहाँ इस स्थिति में 'देह' और 'मैं' में दरार पड़ जाती है। पहले मात्र झगड़ा हुआ था।**

दिव्यता का यह नियम है कि जब कोई भी सोता है, तो वह स्वयं में निराकार हो जाता है। **जब वह निराकार हो जाता है, तो वह इस काल से परे अकाल-काल में विचरण करता है।** जब **'मैं'** लग जाती है तो **एक देह** और **जगत का** मेरे लिए प्रस्तुतिकरण होता है। यदि **'मैं'** नहीं लगा पाते, तो उस समय हमारी देह निष्क्रिय होती है और हमारा कोई जगत भी नहीं होता। सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड की शिव-शक्ति-क्रीड़ा का एक नाम-रूप की देह में (व्यष्टि **'मैं'**) एक पक्ष हम होते हैं और दूसरा पक्ष हमारा जगत (समष्टि**'मैं'**) होता है। जब हम अपने नाम-रूप की अवचेतना में आते हैं, तो उसी समय हमारी देह सहित हमारा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड हमारे समक्ष प्रकट हो जाता है। जब हम अपने नाम-रूप की अवचेतना में नहीं होते तो हम स्वयं भी नहीं होते और हमारा कोई जगत भी नहीं होता। सुषुप्तावस्था, विस्मृतावस्था, मूर्च्छावस्था, मृतकावस्था में हमें अपना स्वयं का और जगत का कोई ज्ञान नहीं होता।

इसीलिए जब गिरधारी लाल रात को सोया तो वह स्वयं और उसका समस्त जगत उसके लिए समाप्त हो गया। वह अपनी देशकाल, परिस्थिति, सम्बन्ध, पद-प्रतिष्ठा, नाम-यश सब कुछ भूल गया। वह निराकार और अकाल हो गया। जैसे कोई कुम्हार कोई खिलौना तोड़कर मिट्‌टी का गोला बना दे। वह कुम्हार उस मिट्‌टी के गोले का क्या बनाएगा, यह वही जानता है। सुबह जब हम उठेंगे तो कुम्हार रूपी परमात्मा ने हमें क्या बनाना है, हम नहीं जानते। हम जब सुबह उठते हैं, तो नए होते हैं। इसे हमारे शास्त्र में

नित-नूतन की संज्ञा दी गई है। हम स्वयं में एक भिन्न व्यक्ति होते हैं।

ईश्वरीय प्रकृति का ऐसा नियम है कि जब कोई अपनी **'मैं'** साथ लगाएगा, तभी वह साकार और सकाल होगा। इसलिए वह आठ घण्टे का समय जिसमें गिरधारी लाल सोया वह समय, काल-गणना से परे अकाल-काल था। जिसकी अनुभूति गिरधारी लाल को नहीं है। नींद के दौरान आठ घण्टे गिरधारी लाल के साथ **'मैं'** नहीं थी और यदि थी, तो प्रकट नहीं थी। स्वप्न के दौरान **'मैं'** स्वप्न वाली देह के साथ प्रकट हुई और लंदन का जगत और साथी आदि प्रकट हुए। एक सृष्टि प्रकट हुई जिसे **'मैं'** ने देखा। लेकिन गिरधारी लाल उस समय निराकार और अकाल था। इसलिए स्वप्न में दो महीने का समय लंदन बिता आया। स्वप्न से जागकर गिरधारी लाल भ्रमित है, कि जो मैं गिरधारी लाल रात को सोया था, मैं वही हूँ। जबकि वह स्वयं में भी वह व्यक्ति नहीं है। नींद के दौरान के Silent Gap को जीवात्मा के रिकार्ड में नहीं आने दिया जाता, यही इस सृष्टि का चमत्कारिक और सबसे महत्त्वपूर्ण अध्यात्मिक **'सद्'** है।

'मैं' जीवात्मा है, जो सबकी एक ही है। जैसे स्रष्टा **ईश्वर** एक है वैसे दृष्टा **जीवात्मा** भी एक ही है। जब हम अपनी देह को नाम-रूप से पहचानने लगते हैं, तो **'मैं'** साथ लगाते हैं। जब तक इस देह को नाम-रूप से नहीं पहचानते, तब तक **'मैं'** हमारे साथ नहीं होती। एक छोटे बच्चे के लिए माँ की गोद ही उसका बाथरूम है, वही डाइनिंग रूम है, वही बैड रूम है। जब वह स्वयं को अपने नाम से पहचानता है, तब ही **'मैं'** लगाता है। प्रश्न उठता है कि **'मैं'** जीवात्मा इस एक देह से भ्रमित क्यों हुआ? देह तो भ्रमित हुई, पर जीवात्मा तो उस स्रष्टा सच्चिदानंद का विशुद्धतम् एकमात्र मानस-पुत्र था। वह एक देह को **'मैं'** कैसे मान बैठा ? इसका एक बहुत ही विशेष कारण था। हम सभी दृष्टा हैं, अपनी शकल के अतिरिक्त सारी दुनिया को देखते हैं। जिसने स्वयं को नहीं देखा वह दुनिया को देखना चाहता है। लेकिन हमें यदि हमारी **'मैं'** की अनुभूति हो जाए, तो बिना कहीं आए जाए हम पूरे विश्व को देख सकते हैं। योगी जो ईश्वर से जुड़ा हुआ है, गुफा में बैठा-बैठा पूरे

ब्रह्माण्ड का आनन्द लेता है। **'मैं'** की अनुभूति के बिना हम कभी संतुष्ट हो ही नहीं सकते, क्योंकि देह के रूप में स्वयं अपने को तो देख ही नहीं पाते। **'मैं'** स्वयं को कैसे देखूँ?

भस्मी हम सबका निश्चित, दर्शित, परिलक्षित भविष्य है। कुछ और हो या न हो हमारी देह की भस्मी अवश्य बनेगी। हम सब जीवन में भविष्यों की ओर दौड़ रहे हैं और हर भविष्य को हम अज्ञात रूप से ढो लेते हैं, कि मानों मुझे प्राप्ति हो गई। हर व्यापार की आय का हमारे पास एक अनुमान होता है। वह अनुमानित आय हमें कार्य के लिए प्रेरित करके संघर्षरत रखती है। मानव होने के नाते यह हमें भली-भाँति ज्ञात है कि चाहे हम कुछ भी प्राप्त कर लें अन्ततः हमारी राख अवश्य बनेगी। भस्मी बनने पर सब कुछ किया-धरा, कमाया अथवा गँवाया भी हमारे लिए भस्मित हो जाएगा। अरे ! उस Tempting Force को भस्मी बनने के लिए इस्तेमाल कर लो, कि मैं भस्मी बन गया हूँ। **'भस्मी' विश्व के हम सब मानवों का Common भविष्य है और 'मैं' हमारा Common वर्तमान है।** यदि हम सद्गुरु-कृपा से जीते जी **'मैं'** और भस्मी का सामंजस्य कर लें तो हमारा जीवन ईश्वर की लीलाओं का प्रत्यक्ष दर्शन हो जाएगा। सम्पूर्ण विश्व हमारा ही विराट स्वरूप हो जाएगा।

भगवान कृष्ण ने श्रीमद्भगवद् गीता में **'मैं'** का वर्णन करते हुए कहा, कि हे अर्जुन, **पुष्पों** में **गुलाब 'मैं'** हूँ, **नागों** में **वासुकी 'मैं'** हूँ, **ऋतुओं** में **वसन्त 'मैं'** हूँ, **पर्वतों** में **हिमालय 'मैं'** हूँ आदि-आदि। भगवान कृष्ण योगीराज हैं उनका **'मैं'** और **'भस्मी'** पर पूर्ण अधिकार है। महाभारत के युद्ध के प्रारम्भ में अर्जुन के सारथी बने श्रीकृष्ण ने उसके आग्रह पर कौरव-पाण्डव सेनाओं के मध्य रथ खड़ा कर दिया। अर्जुन विपक्ष में अपने भ्राताओं, पितामह और गुरुजनों को देखकर हतोत्साहित हो गया और उसने अपना गाण्डीव रख दिया। युद्ध करने से इन्कार करते हुए उसने भगवान कृष्ण से कहा, कि अपने स्वजनों को मार कर मैं त्रिलोकी का राज्य भी नहीं चाहता। तब वहाँ युद्ध के मैदान में श्रीकृष्ण ने अर्जुन को गीता का उपदेश

दिया। हम उस युद्ध की इस पूर्व भूमिका पर विचार करें, कि गीतोपदेश के दौरान दोनों सेनाएँ क्या प्रतीक्षा करती रही होंगी, कि भगवान का उपदेश समाप्त हो जाए, तो युद्ध करें। चलो पाण्डव तो भगवान के प्रति श्रद्धालु थे, वे तो खड़े भी रहे होंगे पर वह दुर्योधन आराम से कैसे खड़ा रहा होगा? भारत के इतिहास में आज तक लड़ा जाने वाला सबसे बड़ा युद्ध क्या इस स्थिति में प्रारम्भ हुआ होगा? किसी सेना का कोई वीर यदि हतोत्साहित हो गया, तो सब उसके तनाव निर्मूलन की प्रतीक्षा क्यों करते रहे होंगे? वस्तुतः श्रीकृष्ण का **'मैं'** और **'भस्मी'** पर पूर्ण अधिकार था, उन्होंने सम्पूर्ण युद्ध का काल रोक लिया था। सब अकाल-काल की स्थिति में चले गए थे।

जब काल का भेदन होता है और हमें **'सद्'** की झलकियाँ मिलने लगती हैं तो हमारी **'मैं'** व्यष्टि-समष्टि दोनों से ऊपर उठ जाती है। फिर गिरधारी लाल **'मैं' ही** हूँ (व्यष्टि) और **'मैं'** गिरधारी लाल **भी** हूँ (समष्टि) दोनों से ऊपर जीवात्मा सब ओर **'तू'** ही **'तू'** (परमात्मा) देखता है। **'मैं'** के साथ देह का भी उत्थान होता है व्यष्टि-समष्टि से ऊपर उठकर देह भी ईश्वरीय हो जाती है:–

मैंने यार को जाँ बजाँ देखा
कहीं बन्दा कहीं खुदा देखा
ज़र्रे-ज़र्रे में तेरे हुस्न का सरापा देखा
तेरी वहदत में भी क़सरत का तमाशा देखा
शान दुनिया में तेरी निराली देखी
सारी ख़लकत तेरे दर पे सवाली देखी
ढूँढने वाले तुझे ढूँढने बियाबाँ गए
मैंने जब देखा अपने दिल में खुलासा देखा
जिसे आँखें खुदा ने दीं वो पत्थर में खुदा देखे
जिसका दिल हो पत्थर वो पत्थर में क्या देखे।

वही देह जो किसी को दोस्त, किसी को दुश्मन, किसी को लेनदार, किसी को देनदार, किसी से नफ़रत, किसी से प्यार करती थी। रोज़

गिरगिट की तरह रंग बदलती थी। मैं ये हूँ, मैं वो हूँ, मुझे वो अच्छा लगता है, मैं इसे पसन्द नहीं करता। इस प्रकार पहले केवल अपने नाम-रूप (व्यष्टि **'मैं'**) में सीमित थी, फिर वह सबमें **'मैं'** ही **'मैं'** (समष्टि **'मैं'**) देखने लगती है। मेरा किसी ने सम्मान किया तो मैंने किया, किसी ने मेरा अपमान किया तो वह भी **'मैं'** था। वह देह भी **'मैं'** के साथ समष्टिगत् हो जाती है। अन्ततः जीवात्मा इसी देह द्वारा अपने निराकार स्वरूप को पहचान लेता है और इस देह को भी **'तू'** (ईश्वर) के रूप में ही देखता है। अन्ततः हर शय में **'तू'** ही **'तू'** (ईश्वर) देखने लगता है। देह वही रहती है, वह दिव्य-देह हो जाती है। वह देह हर्ष, उल्लास, आरोग्यता, सर्वसम्पन्नता, भक्ति, मस्ती, शक्ति, साहस, कृपा और आनन्द का आगार होती है। जीवात्मा उस देह में निराकार, **दृष्टा** रूप में **स्रष्टा** द्वारा रचाई समस्त सृष्टि (वह देह तथा समस्त जगत) का आनन्द लेता है और वाह-वाह करता है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(13 अगस्त 2006)

अवस्था एवं व्यवस्था

(भाग 1)

समस्त साकार सृष्टि को हम नेत्रों से देखते हैं, कानों से सुनते हैं, नाक से सूँघते हैं, त्वचा से स्पर्श करते हैं और जिह्वा से चखते हैं। यह सृष्टि एक **ईश्वरीय व्यवस्था** है और जो इसे देखने, सुनने, सूँघने, छूने और चखने वाला है, वह एक **अवस्था** है। सृष्टि एक प्रस्तुति अथवा **व्यवस्था** है और **अवस्था** इसका अधिग्रहण विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा करती है। व्यवस्था स्पर्श कराती है और अवस्था स्पर्श करती है, व्यवस्था विभिन्न प्रकार की गन्ध बनती है और अवस्था सूँघती है, व्यवस्था स्वाद बनती है और अवस्था चखती है, व्यवस्था दृश्य व शब्द बनती है और अवस्था देखती व सुनती है। सृष्टि उस अवस्था की ठीक-ठीक यथार्थ व्यवस्था है अथवा उस अवस्था के लिए व्यवस्था है।

मानव-जीवन में असंख्य अवस्थाएँ हैं—शैशवावस्था, बाल्यावस्था, यौवनावस्था, प्रौढ़ावस्था, मूर्च्छावस्था, सुषुप्तावस्था, मृतकावस्था तथा जीवन के विभिन्न पहलुओं की अन्य अवस्थाएँ। **देह व जीवन की ये विभिन्न अवस्थाएँ जीवात्मा के मनोरंजन के लिए, उस स्रष्टा द्वारा क्रीड़ा में प्रस्तुत** व्यवस्था में परिपूरक विधाएँ हैं। जब **जीवात्मा** का देह के साथ अध्यास हुआ तो वह **जीव बन गया** और जीव-सृष्टि निर्मित हुई। **जीव अवस्था है और जीव-सृष्टि व्यवस्था है।** सृष्टि में अवस्था और व्यवस्था के बीच क्रीड़ा चल रही है। **प्रत्येक अवस्था के लिए विशिष्ट तदनुसार व्यवस्था है। व्यवस्था है, तो अवस्था है। जैसी अवस्था है वैसी व्यवस्था है**

और जैसी व्यवस्था है तदनुसार वैसी ही अवस्था है। दोनों एक ही समय में एक दूसरे के अनुसार हैं। अवस्था के लिए व्यवस्था है और व्यवस्था के तदनुसार ही अवस्था है। बिना व्यवस्था के अवस्था नहीं है और अवस्था की व्यवस्था होती ही है। **जब हैं तो दोनों हैं, जब नहीं हैं तो दोनों नहीं हैं।** यही सृष्टि है। जो इसे देख, सूँघ, चख, स्पर्श और सुन रहा है, वह **अवस्था** है। जो दिखाई व सुनाई दे रही है, गन्ध, स्पर्श व स्वाद बन रही है, वह **व्यवस्था** है।

जब जीवात्मा देहाध्यास व देहाधिपत्य में जीव बना, तो वह आधि, व्याधि, उपाधि, जन्म, मृत्यु, धर्म, कर्म, देश-काल, सम्बन्ध, लिंग, जाति-कुल, मर्यादा-अमर्यादा, कर्तव्य-अधिकार और विभिन्न प्रकार के रोगों-दोषों, पापों-पुण्यों आदि से बँध गया। जन्मों-जन्मान्तरों में यह बँधता ही चला गया। सृष्टि स्वयं में पंच-महाभूतों में दृश्यमान प्रपंच है, माया है। अवस्था और व्यवस्था दोनों प्रपंच हैं। **व्यवस्था रूपी प्रपंच का अधिग्रहण करने के लिए अवस्था रूपी प्रपंच चाहिए। अवस्था रूपी प्रपंच से ही व्यवस्था रूपी प्रपंच का अधिग्रहण होगा। अवस्था और व्यवस्था दोनों जीवात्मा के मनोरंजन के लिए उस स्रष्टा द्वारा रचाया गया खेल है।**

'मैं' (दृष्टा) जीवात्मा और **'तू'** (स्रष्टा) परमात्मा दोनों अदृश्य और निराकार हैं। समस्त सृष्टि अवस्था और व्यवस्था रूप में साकार है। समस्त सृष्टि में ये दो पक्ष हैं, एक मेरी देह और दूसरा उस समय उस पर आधारित जगत। यहाँ जीवात्मा फँस गया। उसे देह का बाना रूप में अवस्था तथा उस समय उस पर आधारित व्यवस्था का जगत, खेल के लिए दिया गया, कि तू समस्त इन्द्रजाल देख ले। फिर आँखें बन्द करके अपना ध्यान कर ले, कि मैं विशुद्ध जीवात्मा हूँ, जो इन सृष्टि रूप विभिन्न दृश्यों का मात्र दृष्टा है। किसी समय कोई भी अवस्था और व्यवस्था मेरे हाथ में नहीं है। किस समय कैसा स्वप्न आएगा, किसी के हाथ में नहीं है। साथ ही जो भी अवस्था और व्यवस्था बनी है, वह आनन्द में बनी है, क्योंकि सच्चिदानंद की सृष्टि है। हर अवस्था और व्यवस्था का निर्माता, पालनकर्ता और संहारकर्ता ईश्वर

है। **सृष्टि शिव-शक्ति-क्रीड़ा का प्रकाट्य** है, **जो आनन्द से कम हो ही नहीं सकती।** यहाँ आनन्द में न्यूनता तब आई, जब **'मैं'** जीवात्मा ने, अवस्था रूप में प्रकट उस देह को अपना स्वरूप मान लिया, कि 'मैं देह हूँ'। जबकि मेरी व्यष्टि **'मैं'** अवस्था है और मेरी समष्टि **'मैं'** ही व्यवस्था है। दोनों **'मैं'** एक ही हैं इसके लिए समय-समय पर अवस्था और व्यवस्था तदनुसार बदलती हैं। एक साथ प्रकट होती हैं और एक साथ ही लीन होती हैं। व्यवस्था के बिना कोई अवस्था नहीं है और हर अवस्था के साथ तदनुसार कोई न कोई व्यवस्था होगी ही। अवस्था और व्यवस्था दोनों का कारण **'तू'** यानि ईश्वर है।

अवस्था और व्यवस्था दोनों नाम-रूप की देह की अवचेतना में हैं। इसलिए जीव तथाकथित जाग्रत होकर स्वप्न वाली देह को **'मैं'** मानकर स्वप्न सुनाता है, कि मैंने सपना देखा। घनघोर जंगल में कुछ दोस्तों के साथ भटक गया। मेरे पीछे शेर पड़ गया और मैं एक पेड़ से टकरा गया तथा मेरा माथा फूट गया। मैं चीखने लगा, तभी सपना टूट गया। स्वप्न-सृष्टि समाप्त होने पर भी यह शेर व जंगल से भयभीत है। यद्यपि स्वयं में पूर्ण आश्वस्त भी है, कि वह स्वप्न वाली देह, उस समस्त दृश्य के साथ समाप्त हो गई। न वह जंगल है, न शेर है और न वह पेड़ जिससे वह स्वप्न वाली देह टकराई थी और माथे से खून निकला था। वह जिस बिस्तर पर सोया था, उसी से उठा है। वह स्वप्न की देह, एक अवस्था थी और वह जंगल, पेड़ व शेर आदि उसकी व्यवस्था में थे। अब दोनों नहीं हैं। अब दूसरी देह, अवस्था है और उसकी दूसरी व्यवस्था है। दोनों देहों (अवस्थाओं) का भिन्न प्रकाट्य है, साथ ही साथ तदनुसार व्यवस्था का भी भिन्न प्रकाट्य है। देखा **'मैं'** ने ही, लेकिन **'मैं'** कहीं आया गया नहीं। **'मैं'** ने पंच-महाभूतों की देह और उस पर आधारित सृष्टि देखी, जो प्रकट हुई और लीन हो गई। उस पंच-महाभूतों की देह की **'भस्मी'** भी नहीं है। स्वप्न की वह देह किन पंच-महाभूतों में विलीन हुई? शेर, पेड़, जंगल आदि छोड़ भी दें, तो उस देह की भस्मी कहाँ है? इसलिए मैं स्वयं में आश्वस्त हो जाता हूँ, कि वह एक मायिक प्रकाट्य था और अब वह कुछ नहीं है। अब अवस्था

और व्यवस्था दूसरी है। जैसे, वह देह **'मैं'** नहीं था, ऐसे ही यह तथाकथित जागृति वाली देह भी **'मैं'** नहीं हूँ। यदि यह देह **'मैं'** हूँ तो वह भी **'मैं'** था। देहें पृथक्-पृथक् हैं, लेकिन **'मैं'** एक ही है। देहें अवस्था थीं और उस पर आधारित समस्त दृश्य व्यवस्था थी और कुछ नहीं था, सब कुछ मायिक इन्द्रजाल था। **वह अवस्था और व्यवस्था दोनों ईश्वर का खेल था, जो उसके द्वारा मेरे मनोरजंन के लिए रचा गया था।**

स्वप्न से तथाकथित जागृति में जो देह, अवस्था रूप में मेरे सामने प्रकट है, वह घबराई हुई इसलिए है, क्योंकि मैं भ्रमित हूँ, कि स्वप्न वाली देह और यह तथाकथित जाग्रत देह दोनों एक ही हैं। हम अपने जीवन का कोई भी पहलू याद करें, उसमें हमें अपनी अवस्था रूप में एक देह नज़र आती है और तदनुसार व्यवस्था भी होती है। **अतः स्मृति देह की नहीं है, स्मृति 'मैं' की है।** स्वप्न वाला शिवकुमार मैं नहीं हूँ और यह जो तथाकथित जागकर स्वप्न का वर्णन कर रहा है, यह शिवकुमार भी मैं नहीं हूँ। स्वप्न के शिवकुमार के रूप में वह मेरी उस समय की अवस्था थी और जो स्वप्न का वर्णन कर रहा है, यह मेरी इस समय की अवस्था है और दोनों अवस्थाओं की तदनुसार व्यवस्थाएँ हैं।

वह जो स्वप्न के शिवकुमार की अवस्था व व्यवस्था थी, अब तथाकथित जागृति में यह शिवकुमार जानता है, कि मैं वो नहीं हूँ। स्वप्न उसने देखा था, मैं जो वर्णन कर रहा हूँ, मैंने स्वप्न नहीं देखा। जिसने वह स्वप्न देखा उसके लिए वह सपना नहीं था। **मेरी तथाकथित जागृति ने उसे स्वप्न घोषित कर दिया। जो मेरी वास्तविक जागृति है, वह अवस्था रूप में इस शिवकुमार और उसकी इस व्यवस्था को भी समाप्त कर देगी।** मात्र **'मैं'** याद होगी अथवा **'मैं'** का अस्तित्व **'तू'** याद होगा। शेष सब खेल होगा, मायिक प्रपंच होगा।

जितने वेद-पुराण, शास्त्र, उपनिषद्, गीता, रामायण आदि ग्रन्थ तथा महापुरुषों के प्रवचन हैं, वे इस तथाकथित जागृति को हटाने के लिए हैं। जीवात्मा इस तथाकथित जागृति में ही फँसा। जब हम घुप्प अँधेरे में होते हैं,

तो हम भ्रमित नहीं होते, कि साँप है या रज्जु। साँप-रज्जु का भ्रम पूर्ण प्रकाश में भी नहीं होता। **यह भ्रम मात्र वहाँ होता है, जहाँ न तो पूर्ण अन्धकार है और न ही पूर्ण प्रकाश है।** जब नींद में हम बड़बड़ाते हैं, तब न पूर्णतः सुषुप्त होते हैं, न पूर्णतः जाग्रत होते हैं। यह तथाकथित जागृति वस्तुतः हमारी अर्द्ध सुषुप्तावस्था है, जिसमें हम एक स्वप्न से जागकर दूसरे स्वप्न में आ जाते हैं। स्वप्न की विभिन्न देहों के रूप में अवस्थाओं और व्यवस्थाओं से तद्‌रूप हुए सुखी-दुःखी, पापी-पुण्यी, कर्मठ, यहाँ तक कि कर्मयोगी तक बने रहते हैं। सद्‌गुरु हमें इससे जगाता है, कि **उत्तिष्ठ, जाग्रत, तुम मंज़िल पर ही हो।** हम तथाकथित जागृति में ही फँसे हैं, कि अभी-अभी स्वप्न में जंगल में शेर मेरे पीछे पड़ा हुआ था। जाग्रत होकर भी देह के साथ अध्यास के कारण यह मानने को तैयार ही नहीं होते, कि वह कुछ नहीं था।

किसी देश-काल-परिस्थिति में भटकते हुए जीव में प्रभु-कृपा से स्वयं के विषय में जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती हैं, कि **'मैं'** कौन हूँ, मुझे कहाँ जाना है, मैं मानव-देह देकर यहाँ क्यों लाया गया हूँ, मेरा देह के साथ सम्बन्ध क्या है, मैं क्यों हूँ, यह देह क्यों है, मैं जीवन से क्या चाहता हूँ, जो प्राप्त करना चाहता हूँ, यदि मिल भी जाए तो क्या हो जाएगा? मैं दुनिया में नंगा-भूखा लाया गया और जब वह सृष्टिकर्ता चाहेगा, मुझे यहाँ से निकाल देगा। मैं कुछ भी यहाँ से लेकर नहीं जाऊँगा, यह मैं जानता हूँ। तो इस जीवन और सृष्टि का अर्थ क्या है, यह कहानी क्या है? आदि-आदि। **ये बुद्धि से उठे प्रश्न नहीं हैं, बल्कि रूह व आत्मा की गहराइयों से उठी जिज्ञासाएँ हैं, आर्तनाद व हूक है।** इनका उत्तर तीव्रतम् बुद्धि द्वारा भी नहीं दिया जा सकता। **वस्तुतः जिज्ञासा एक अग्नि है, जिसे तत्त्वज्ञ अनुभूतिगम्य सद्‌गुरु की अति-अति प्रचण्ड महा अग्नि ही शान्त कर सकती है।** मैंने **'जिज्ञासा'** शीर्षक प्रवचन में जिज्ञासु व उसकी जिज्ञासाओं की विभिन्न अवस्थाओं और उसकी व्यवस्थाओं का सविस्तार वर्णन किया है। जिज्ञासु अवस्था में जीव देहाध्यास व देहाधिपत्य के कारण जन्मों-जन्मान्तरों से हुई भटकन से मुक्ति चाहता है।

उसकी मात्र एक ही चाह रह जाती है, कि किसी भी प्रकार से और सब प्रकार से **'सद्'** की अनुभूति हो जाए। ताकि वह मायिक प्रपंच की विभिन्न अवस्थाओं और तदनुसार हुई व्यवस्थाओं का आनन्द ले सके। इसके लिए वह अपना सर्वस्व अर्पण कर देता है और समर्पण का समर्पण भी **भूल** जाता है।

सद्गुरु और सद्शिष्य के मध्य परस्पर व्यवहार सा होता है, कि सद्गुरु चरण दबवाता है और सद्शिष्य उसके चरण दबाता है। सद्गुरु यज्ञ-हवन, दान-पुण्य, जप-तप आदि करवाता है, सद्शिष्य करता है। ये पुरुषार्थ कर्म सद्शिष्य और सद्गुरु के बीच व्यवहार सा होता है, जो दोनों जानते हैं। लेकिन वहाँ उसकी जिज्ञासा शान्त हो जाती है और अनुभूति में परिवर्तित हो जाती है। **सद्शिष्य की आत्मा से उठी आर्तनाद, नादानुभूति हो जाती है।** उसे सद्गुरु के दर्शन मात्र से अनुभूति हो जाती है और शेष मध्य का **व्यवहार सा** रह जाता है। वहाँ कुछ बोलने-सुनने की आवश्यकता नहीं होती, लेकिन फिर भी सद्गुरु कुछ कहता है, वह सुनता है। जबकि विषय मात्र अनुभूतिगम्य है, कहने, सुनने, बुद्धि, मन, वाणी से परे है।

सद्गुरु, सद्शिष्य को विभिन्न दैहिक अवस्थाओं में अपनी **'मैं'** के लिए हुई व्यवस्थाओं पर एकाग्र करने का परामर्श देता है। मैं कौन हूँ? मैं देह नहीं हूँ। जब देह नहीं थी, तो मैं था और जब देह नहीं रहती, तो भी मैं रहता हूँ। जब देह है तो भी **'मैं'** हूँ, परन्तु **'मैं'** देह से परे कैसे हूँ? सद्गुरु कहता है, कि देह की ऐसी अवस्थाओं पर ध्यान कर, एकाग्र कर, जिसकी व्यवस्था में देह **'मैं'** को छोड़ देती है। **भ्रूणावस्था,** जब तेरी देह के लिए किसी देह में गर्भाधान हुआ, तू नहीं कह सकता था, कि मैं भ्रूण हूँ। वह तथाकथित तेरी माँ का गर्भ नहीं था, क्योंकि 15 – 20 दिनों अथवा महीने डेढ़ महीने तक तो किसी को ज्ञान ही नहीं था, कि कुछ हो गया है, तू गर्भ में आ गया है। लेकिन तेरे लिए हिरण्यगर्भ में सारी व्यवस्था हुई-हुआई थीः—

''हिरण्य गर्भ गर्भस्थं हेम बीजं विभावसो,
अनन्तम् पुण्यम् फलदमतः शान्ति प्रयच्छ मे।''

अनन्त पुण्यों व विशिष्टतम् कृपाओं से यदि तू उस अवस्था पर एकाग्र करे, तो तुझे अभी चिर इच्छित परम शान्ति प्राप्त हो जाएगी। क्योंकि **बिन्दु रूप अदृश्यप्रायः उस D.V.Dot में युगों-युगान्तरों में तेरे लिए भूत और भविष्य में प्रकट हुई, हो रही और होने वाली अवस्थाओं और व्यवस्थाओं का सारा ब्यौरा अंकित था। 'व्यष्टि-समष्टि'** प्रवचनों में मैंने इस विषय का सविस्तार वर्णन किया है। माँ के गर्भ में तेरी देह बनी और तेरे तथाकथित माता-पिता व सगे-सम्बन्धियों के रूपों में ईश्वर ही तेरे लिए सब कुछ करने-कराने वाला था। तू नहीं कह सकता, कि मैं गर्भ में हूँ। फिर तेरी शिशु देह का पृथ्वी पर पदार्पण हुआ, उस शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था की भी समस्त व्यवस्थाएँ तदनुसार तेरे लिए बनी बनाई थीं। तूने अपनी सोच से उसमें कुछ नहीं किया। क्योंकि तब तेरी बुद्धि का विकास ही नहीं हुआ था। तू नहीं कह सकता, कि मैं कुछ दिन या महीनों का शिशु हूँ अथवा मैं साल भर का बालक हूँ। **अब तेरी बुद्धि परिपक्व हो गई है, तो तू अपनी पिछली समस्त अवस्थाओं और तदनुसार हुई व्यवस्थाओं की कल्पना कर सकता है।** सद्शिष्य कहता है, कि प्रभु ! मैंने इन अवस्थाओं पर ध्यान किया। शैशवावस्था की व्यवस्था में मैंने ध्यान में देखा, कि मेरी माँ है, मुझे गोद में लेकर स्तनों से दुग्धपान करा रही है। कभी नहला रही है, मुझे गन्दा देखकर सफाई कर रही है, सुन्दर वस्त्र पहना रही है। पिता मेरे लिए खिलौने लेकर आते हैं। मेरे बड़े भाई-बहन मुझे तरह-तरह से खिलाते हैं। मैं शिशु रूप में खेलता, सोता और मस्ती करता रहता हूँ। कोई कष्ट होने पर रोता-चिल्लाता हूँ, तो सब मेरे लिए चिन्तित हो जाते हैं। सद्गुरु कहता है, कि तू देख अवस्था और व्यवस्था दोनों परिपूरक हैं, स्वतः प्रकट हैं। जैसी तेरी अवस्था है, वैसी व्यवस्था है और व्यवस्था के अनुसार ही तेरी अवस्था है। अवस्था नहीं है, तो व्यवस्था नहीं है और व्यवस्था नहीं है, तो अवस्था भी नहीं है। **सद्गुरु बताता है, कि तू मात्र वह अवस्था ही नहीं है, कि तू शिशु है, बल्कि तदनुसार प्रकट हुई व्यवस्था भी तू ही है।** उस अवस्था के लिए सम्पूर्ण व्यवस्था का निर्माण, पालन ईश्वर ने किया। जब वह अवस्था नहीं

रही और बदली, तो तदनुसार व्यवस्था भी बदल गई। इस प्रकार वह सम्पूर्ण व्यवस्था, अवस्था के अनुसार है और अवस्था में तू किसी न किसी नाम-रूप में है। सद्शिष्य कहता है, कि **'मैं'** नाम-रूप की देह से कैसे पृथक् हो सकूँ, मैं यह नहीं जान पाया।

सद्गुरु उस पर कृपा करता है, उसे बताता है, कि सुषुप्तावस्था भी तेरी एक अवस्था है। **'तू'** उस पर एकाग्र करेगा तो पाएगा, कि उसकी भी एक व्यवस्था है—रात्रि का कोई प्रहर, कृष्ण पक्ष या शुक्ल पक्ष की किसी भी दिन अथवा तिथि के अनुसार चन्द्रमा आदि का आकाश में होना अथवा बादल, बरसात आदि का होना, घर का एक कक्ष, उसमें बिछा पलंग और उस पर पड़ी तेरी सुषुप्त देह, घर-परिवार के अन्य लोगों की स्थितियाँ, बाहर चौकीदार का डण्डा बजाते हुए पहरा देना, आदि-आदि। यद्यपि सुषुप्तावस्था में तू होता है, लेकिन उस अवस्था में तू क्या, कैसा होता है, तू नहीं जानता, क्योंकि तू यह नहीं कह सकता, कि **'मैं'** सोया हुआ हूँ। वह अवस्था भी एक नाम-रूप है। लेकिन सारी व्यवस्था ठीक-ठीक उसी अवस्था के अनुरूप विशिष्ट रूप से है। **उस अवस्था में तुझे अपने नाम-रूप की अवचेतना नहीं होती और तू चेतना में विश्राम पाता है।** सद्शिष्य कहता है, प्रभु देह ने **'मैं'** को उस अवस्था में छोड़ दिया होता है, लेकिन उस अवस्था पर एकाग्र करने पर मैं नाम-रूप में आ जाता हूँ, क्योंकि मुझे नाम-रूप की सुषुप्त देह **'ध्यान में'** नज़र आती है।

सद्शिष्य से सद्गुरु मृतकावस्था पर एकाग्र करने के लिए कहता है। इस अवस्था की भी तदनुसार एक व्यवस्था है, कोई रो रहा है, कोई अर्थी, लकड़ी, घी आदि का प्रबन्ध कर रहा है, तो कोई शमशान में प्रबन्ध कर रहा है। लेकिन इस अवस्था की व्यवस्था में भी अवस्था नाम-रूप से पृथक् नहीं है। यद्यपि मैं नहीं कह सकूँगा, कि मैं मर गया हूँ, लेकिन जीते जी उस अवस्था पर ध्यान करने पर मुझे अपनी नाम-रूप की मृतक देह नज़र आती है और इस पर आधारित जगत भी प्रकट होता है। सद्गुरु, सद्शिष्य को देह की विभिन्न अवस्थाओं में घुमाता है। सद्शिष्य आर्तनाद करता है, कि प्रभु मैं

किसी भी अवस्था में नाम-रूप से छूट नहीं पा रहा हूँ और हर दैहिक अवस्था की एक तदनुसार व्यवस्था है। दोनों का कारण मैं नहीं हूँ। मैं नाम-रूपात्मक जगत में ही उलझा हूँ आप मुझे छुड़ाइए, त्राहि माम्, त्राहि माम्। अवस्था और व्यवस्था दोनों नहीं हैं, लेकिन जब हैं, तो दोनों हैं तथा दोनों नाम-रूप में हैं।

सद्गुरु अब उसे देह की उस भस्मावस्था पर एकाग्र करने को कहता है, जो **देह की निश्चित अवस्था है। उस अवस्था में देह नहीं है, लेकिन व्यवस्था देह की है।** भस्मी देह की परिलक्षित, दर्शित, निश्चित अवस्था है। देह की उस अवस्था की व्यवस्था में तू देखेगा, कि कुछ लोग उस भस्मी को गंगा अथवा यमुना में प्रवाहित कर रहे हैं। व्यवस्था वहाँ भी है, लेकिन अवस्था में तेरी देह नहीं होगी। केवल यही एक छिद्र है, जहाँ से तू नाम-रूप की देह से छूट सकता है। सद्शिष्य पूछता है, महाराज इसके लिए मैं क्या करूँ?

सद्गुरु बताता है, कि तू देह का अब मात्र अवलम्बन ले। अभी तक तूने **देहाध्यास व देहाधिपत्य** किया। जिज्ञासा जाग्रत होने पर तूने **देहाध्ययन** किया, जिसमें देह की विभिन्न अवस्थाओं की व्यवस्थाओं को देखा। अब तू मात्र **देहावलम्बन** ले। ध्यान में देह की भस्मी बना। देह की भस्मी को, जोकि तेरा निश्चित, परिलक्षित, दर्शित भविष्य है, उसे लक्ष्य बनाते हुए ध्यान में दृश्य बना ले। उस दृश्य में जो अवधारित भस्मी होगी, उसमें तेरी देह नहीं होगी। **क्योंकि भस्मावस्था देह की वह निश्चित अवस्था है, जिस अवस्था में देह नहीं होती और व्यवस्था में भी तेरी देह नहीं होगी।** उस अवस्था की व्यवस्था में पंच-महाभूतों की देह अग्नि-दहन द्वारा पंच-महाभूतों में विलीन कर दी जाएगी और तब अदृश्य रूप से समाहित वह तत्त्वातीत तत्त्व **'भस्मी'** प्रकट हो जाएगी। इस प्रकार तू देह को भस्मित करने के लिए देहावलम्बन ले। जब तू कहेगा 'मैं भस्मी हूँ' तब तेरे सम्मुख कोई देह नहीं होगी। उस स्थिति में प्रविष्टि होने पर देह व देह पर आधारित जगत का लय हो जाएगा। वही तेरा जीवात्मा स्वरूप है, तब तू

देह से पृथक् अपने विशुद्ध स्वरूप की अनुभूति करेगाः–

'निराकार रूपं शिवोऽहम् शिवोऽहम्।'

अब तू पुनः सृष्टि का अधिग्रहण करने के लिए देहावलम्बन ले, विभिन्न ज्ञानेन्द्रियों द्वारा सृष्टि को देख, सुन, सूँघ, स्पर्श कर और स्वाद ले। जब तक तू जीते जी देहावलम्बन लेकर देह की भस्मावस्था की व्यवस्था की अनुभूति नहीं करेगा, तब तक तू नाम-रूप की देह को अपने साथ पाते ही देहाध्यास व देहाधिपत्य करेगा। तू क्षुद्र संकुचित सा जीव बनकर देह की विभिन्न अवस्थाओं में पुनः पुनः जन्मों-जन्मान्तरों के काल-चक्र में भटकता रहेगा। इसलिए अब पहले तो अपनी भस्मावस्था की अवधारणा के लिए देहावलम्बन ले, फिर सृष्टि के अधिग्रहण के लिए देहावलम्बन ले। सृष्टि में जिस भी अवस्था के लिए तू देहावलम्बन लेगा, उस अवस्था की व्यवस्था तू अपने सामने पाएगा। तू देखेगा, कि पहले वहाँ व्यवस्था बनेगी, फिर कोई भी अवस्था बनेगी। **लेकिन यदि तू देह का अवलम्बन मात्र सृष्टि के अधिग्रहण के लिए लेगा, तो तू स्वयं देहाध्यास में अवस्था बनाकर, व्यवस्था करता रहेगा।** मैं इसे पुनः स्पष्ट करूँगा।

जब तू देहावलम्बन लेकर भस्मित स्वरूप में आ जाएगा और फिर सृष्टि का अधिग्रहण करेगा, तो तू सृष्टि का बहुत आनन्द लेगा। क्योंकि समस्त अवस्थाएँ और व्यवस्थाएँ स्वतः समयानुसार तदनुसार तेरे लिए स्वतः प्रकट होती रहेंगी। तुझे स्वयं कुछ नहीं करना पड़ेगा, तू मात्र स्रष्टा द्वारा समय-समय पर तेरे लिए प्रकट होने वाली सृष्टि में माया की 84 लाख विभिन्न विधाओं अथवा क्रीड़ाओं का अधिग्रहण आनन्दपूर्वक देहावलम्बन लेकर करेगा। साथ-साथ नित्य अपने भस्मित स्वरूप में आकर अपने शिवत्व में विश्राम भी पाता रहेगा। यदि अपने भस्मी स्वरूप में नहीं आएगा, तो अवश्य सृष्टि के प्रकट होते ही नाम-रूप की देह को अपने साथ पाने पर देहाध्यास व देहाधिपत्य में ग्रसित हो जाएगा। अपनी इच्छा से अवस्था और व्यवस्था का निर्माण करना प्रारम्भ कर देगा। तू इसी प्रकार आज तक फँसता रहा है। क्योंकि ज़रा सा देह का सान्निध्य तुरन्त देहाध्यास व

देहाधिपत्य बन गया, माया की चकाचौंध से तेरी आँखें खुली रह गईं। **सृष्टि में स्रष्टा द्वारा प्रकट की जाने वाली व्यवस्थाओं में तूने हस्तक्षेप करना शुरू कर दिया और ईश्वर द्वारा किए जाने वाले कार्यों को अपने नाम करना प्रारम्भ कर दिया।** इस प्रकार तू **देह से**, देह में फँस गया। अब तू **देह से, देह द्वारा ही निकल।**

तुझे मानव-देह मिली है, तू पशु नहीं है, जो प्रकृति के वशीभूत रहते हैं। तू प्रकृति का बाध कर सकता है। अतः तू **देहावलम्बन देह की उस अवस्था की निर्मिति के लिए ले, जो अवस्था देह की नहीं है।** जब तू जीते जी उस भस्मावस्था की मानसिक स्थिति में आएगा, तो उस भस्मी की अवधारणा करते-करते तुझ में शिव की विभूत्यातीत विभूति वैराग प्रकट हो जाएगी। मृत्योपरान्त जब देह पंच-महाभूतों में विलीन होती है, तो उसके शिवत्व को भस्मी प्रमाणित करती है। भस्मी मृतक की बनती है। जीते जी सद्गुरु-कृपा से पंच-महाभूतों में विलीन हुए बिना भस्मी की अवधारणा होगी और देहातीत स्थिति में प्रविष्टि होगी, **तो उसे 'वैराग' प्रमाणित करेगा। यही तेरा धर्म है।** शिव अपनी अति शक्ति वैराग में, वैराग द्वारा ही पंच-प्राणों की महाशक्ति को पंच-महाभूतों की सृष्टि में विभिन्न अवस्थाओं व व्यवथाओं में प्रकट करता है। उसका वैराग पंच-महाभूतों में अदृश्य भस्मी के रूप में समान रूप से समाहित हो जाता है।

शिव-शक्ति-क्रीड़ा में इसी प्रकार हमारे लिए समय-समय पर विभिन्न अवस्थाओं और व्यवस्थाओं का प्राकाट्य होता रहता है। इस स्वप्नवत् सृष्टि के असद् का **'सद्'** यही है। नहीं तो स्वप्नों में विभिन्न इच्छाओं की पूर्ति होती रहेगी और इच्छाएँ रक्तबीज की तरह हमें भटकाती रहेंगी। इस मायिक इन्द्रजाल में जहाँ सब कुछ मिटने के लिए ही बना है, उसमें कुछ हो गया तो क्या और न भी हुआ तो क्या? **सब भ्रम ही तो है। यदि अवस्था होगी तो व्यवस्था भी बनी बनाई मिलेगी। हमें क्या करना है? हमें उत्कृष्टतम् मानव-देह व विलक्षण चेतनामयी बुद्धि दी गई है, तो हमें हर अवस्था को प्रेमपूर्वक ईश्वर से जोड़ते हुए दिव्य बनाना है। फिर हम**

देहावलम्बन लेकर तनिक भ्रमित होकर इस मायिक प्रपंच का अधिग्रहण करेंगे, तो जिस समय, जैसी हमारी देह की अवस्था बनेगी, वैसी ही तदनुसार व्यवस्था हमारे लिए स्वतः प्रकट होती रहेगी। तभी हम इस मायिक प्रपंच का आनन्द ले पाएँगे। हमें देहावलम्बन के लिए ही देह मिली थी, ताकि हम इस तमाशे का आनन्द लें और सृष्टिकर्ता की वाह-वाह करें। इस प्रकार हम सृष्टि में अवस्था और व्यवस्था का सारा रहस्य सद्गुरु-कृपा से हृदयंगम कर पाएँगे।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(27 मई, 2006)

अवस्था एवं व्यवस्था

(भाग 2)

ईश्वर सच्चिदानंद है और कोटि-कोटि ब्रह्माण्डों का रचयिता, पालनकर्ता तथा संहारकर्ता है। उसका एकमात्र मानस-पुत्र जीवात्मा उसके द्वारा रची इस समस्त मायिक सृष्टि का दृष्टा है। दोनों अदृश्य एवं निराकार हैं तथा पंच-महाभूतों से प्रकट यह सृष्टि साकार है। इस साकार मायिक सृष्टि के अधिग्रहण, प्रस्तुतिकरण एवं प्रशंसा करने के लिए परमात्मा, अपने मानस-पुत्र (जीवात्मा) को एक नाम-रूप की **मायिक देह** के रूप में **अवस्था** तथा तदनुसार **जगत** के रूप में **व्यवस्था** देकर खिलाता है। अवस्था व व्यवस्था समय-समय पर ईश्वर-इच्छा में स्वतः परिवर्तनशील 84 लाख विभिन्न मानसिक एवं मायिक विधाओं का साकार प्रकटीकरण है। **जीवात्मा के लिए अवस्था व व्यवस्था रूप में यह साकार जगत उसके मनोरंजन तथा उस स्रष्टा की लीलाओं के गुणगान व प्रशंसा का माध्यम मात्र है।**

हम मानव तथाकथित होश सम्भालने पर जीवन-पर्यन्त ही नहीं जन्मों-जन्मान्तरों में इस संसार महानाट्यशाला में **प्रकट मायिक अवस्थाओं-व्यवस्थाओं में ही उलझे रहते हैं।** इसलिए परमात्मा द्वारा आनन्द में रचाया गया यह जगत का खेल ही हमारे लिए झमेल बन जाता है। इसका एकमात्र कारण यह है, कि परमात्मा द्वारा दी गई एक नाम-रूप की देह से जीवात्मा को **भ्रम** हो जाता है, कि **मैं यह देह हूँ और यह देह मेरी है।** इसके फलस्वरूप जीवात्मा उस देह व देह पर आधारित जगत को ही **'मैं'** (देहाध्यास) और **'मेरा' (देहाधिपत्य)** मानकर **भ्रमित** होता हुआ, उसी में

'रम' जाता है। ईश्वर द्वारा स्वतः निर्मित, पालित और संहारित देह व जगत की हर अवस्था तथा व्यवस्था को अपनी मानकर, इन्हीं के परिवर्तन, सम्वर्द्धन, संचालन व पालन में ईश्वर-प्रदत्त अपनी समस्त दैहिक, बौद्धिक व मानसिक शक्तियों को झोंक देता है। **इसी अर्थहीन, निरर्थक, व्यर्थ, नकारात्मक व अनर्थयुक्त प्रक्रिया में ईश्वर-प्रदत्त, देव-दुर्लभ, मानव-देह प्राप्त करके भी भटकता रहता है।**

मैंने अपने विभिन्न प्रवचनों में बार-बार इंगित किया है, कि मानव-मन ईश्वरीय आनन्द का स्रोत है तथा बुद्धि ईश्वरीय चेतना की प्रतीक है। ईश्वरीय मन-बुद्धि के पारस्परिक सामंजस्य से होने वाले कृत्य **'सद्'** ही होते हैं। लेकिन जैसे ही जीवात्मा ने देह पर अधिपत्य व अध्यास किया, कि 'मैं यह देह हूँ', तो उसकी बुद्धि ईश्वरीय चेतना से अवचेतना बन गई। उसका स्थिर, शान्त व सशक्त आनन्दमय **ईश्वरीय मन** अस्थिर, अशान्त, अशक्त एवं दुःख-सुख-ग्रस्त **मानवीय मन** बन गया। दोनों में सामंजस्य का अभाव होने के कारण मन-बुद्धि के परस्पर विश्रृंखल सम्बन्धों के प्रकाट्य से होने वाले कृत्य अहंपूर्ण और बवण्डरों से युक्त होने लगे। स्वयं में सच्चिदानंद ईश्वर का इकलौता मानस-पुत्र जीवात्मा क्षुद्र जीव बनकर आधि, व्याधि, उपाधि, मल, विक्षेप, आवरण, रोग, दोष, वैर, वैमनस्य, त्रास, भय, आशंका, तनाव, ईर्ष्या, शत्रुता और न जाने किन-किन विकृतियों में जन्म-दर-जन्म भटकने लगा।

'मैं' विशुद्ध, अदृश्य व निराकार जीवात्मा है। मायिक देह व जगत के साकार दृष्टा के रूप में भी सच्चिदानंद परमात्मा का विशुद्ध अंश है। साकार देह व जगत का यह दृष्टा स्वयं में सहज सुखराशि है। उसे जगत में एक नाम-रूप देह के रूप में **अवस्था** के साथ तदनुसार बनी बनाई **व्यवस्था** ईश्वर द्वारा स्वतः मिलती है। जब तक वह स्वयं को उस देह से नहीं पहचानता, हर अवस्था तथा व्यवस्था आनन्द में प्रकट और लीन होती है। उसका कोई हस्तक्षेप उसमें नहीं होता। उसकी बुद्धि जैसे ही तथाकथित विकसित और परिपक्व होती है, उस अवस्था में उसे नाम-रूप की

अवचेतनामयी देह के साथ अध्यास हो जाता है। 'मैं देह हूँ' के अध्यास के साथ ही उसकी बुद्धि मात्र मानवीय आई. क्यू. वाली बुद्धि रह जाती है। **देह की अवचेतना में उसकी दिव्य चेतन बुद्धि की विवेक, प्रज्ञा, मेधा और ऋतम्भरा विधाएँ आच्छादित हो जाती हैं।** वह नाम-रूप की देह की हर अवस्था से तद्‌रूप हुआ स्वयं कारण और कर्ता बन जाता है। यहीं से उसके दुःखों-सुखों तथा अनन्त व अविराम कर्म-बन्धनों की श्रृंखला प्रारम्भ हो जाती है।

अवस्था से तात्पर्य मेरी एक नाम-रूप की देह से न होकर **मन से है।** मन एक ही है, **मेरा मन मेरी जीवात्मा है।** एक विशेष देश-काल, परिस्थिति में मेरी मानसिक अवस्था ही मेरी एक नाम-रूप की देह सहित समस्त जगत की व्यवस्था के रूप में दृश्यमान होती है। **अवस्था निराकार है, प्राकट्य व्यवस्था है, जो साकार है।** मन मूलतः ईश्वरीय आनन्द का द्योतक है। जहाँ आनन्द है वहाँ **'सद्' व 'चेतन'** होते ही हैं। अवस्था मन की है। उदाहरणतः हमारा मन यदि आनन्दित न हो तो बाह्य रूप में हम चाहे जितना भी मुस्कुराते रहें हमारे हाव-भावों में मन की विश्रृंखलित अवस्था प्रकट हो ही जाती है। **मन की अवस्था उसी प्रकार बदलती है, जिस प्रकार आकाश में क्षण-क्षण परिवर्तन होता रहता है।** पंच-महाभूतों का एक मूल प्राकृतिक सौन्दर्यमय स्वरूप है, जिसमें प्रकृति द्वारा सौन्दर्य सम्वर्द्धन के लिए नित नूतन अलंकरण होता है। आकाश का मूल स्वरूप स्वच्छ नीलिमामय तथा बहुत ही भव्य है। अलंकरण हेतु आकाश में बादल कभी छितरे हुए होते हैं, कभी घने होते हैं। कभी आकाश में लालिमा अधिक होती है, कभी कालिमा। कभी जल भरे काले बादल फुहारें बरसाते हैं, कभी नीलिमामय आकाश शुभ्र धूप की तेजी में चमकता है। कभी काला सा आकाश तारे, चन्द्र आदि नक्षत्रों से जगमगाता है, कभी अमावस का आकाश होता है। कभी धूल भरा आकाश और कभी काली आँधी का पूर्वाभास लिए आकाश होता है। पृथ्वी की भी अपनी शोभा है। उसमें पेड़-पौधे तथा विभिन्न पुष्प उगते हैं। इससे पृथ्वी की शोभा के और शोभायमान होने के साथ पृथ्वी का वह भाग आच्छादित भी हो

जाता है। प्रकृति में सब कुछ नग्न है और अलंकरण भी स्वयं में नग्न है:—

''नग्न तृण, तरु, पल्लव, खग वृन्द, नग्न श्याम तन आकाश,
नग्न रवि, शशि, तारक, निहार, नग्न बादल विद्युत वातास।''

एक नारी बहुत सुन्दर है, फिर भी वह वस्त्रों व गहनों से अपना अलंकरण करती है। यह अलंकरण उस सौन्दर्य के सम्वर्द्धन के लिए किया जाता है। लेकिन **उस अलंकरण में आच्छादन हो जाता है।** मोतियों की माला गले में पहनी तो गले का उतना भाग अवश्य ही आच्छादित हो जाता है। हालांकि गले के मूल सौन्दर्य में वृद्धि ही हुई। अलंकरण करने के लिए जिन आभूषणों को पहना जाता है, उन्हें ढका नहीं जाता। वे तन को ढकते हैं, लेकिन स्वयं अनाच्छादित रहते हैं। तभी वे शोभा बढ़ाते हैं। हम नित्य विभिन्न वस्त्रों व अलंकारों से अपना शरीर सजाते हैं। देह वही रहती है, आच्छादन भी होता है, लेकिन सौन्दर्य का सम्वर्द्धन होता है। उस आच्छादन के वस्त्र व आभूषणों को हम बदलते रहते हैं, लेकिन देह को हम नहीं बदल सकते।

जितना परिवर्तन सा दृष्टिगत होता है, वह आनन्द में, आनन्द के लिए ही होता है। इसी प्रकार मानव-मन मूलतः ईश्वरीय आनन्द है, ईश्वर की तरह निराकार है। नित्य समय-समय पर इसे माया की विभिन्न विधाओं से अलंकृत किया जाता है। उसकी हर क्षण ईश्वर द्वारा एक पृथक् अलंकृत अवस्था बनाई जाती है। **वह अवस्था हमारे हाथ में नहीं है।** हम अपनी देह और सारा ब्रह्माण्ड मात्र अपने लिए मान कर चलें। यह बात प्रत्येक मानव के लिए सत्य है।

मानस निराकार है और उस पर अंकित अवस्था भी निराकार है। हम उस मानसिक अवस्था का अनुभव कर सकते हैं। **साथ ही हम स्वयं में आश्वस्त हो जाएँ, कि जो भी मानसिक अवस्था बनी है, वह ईश्वर द्वारा आनन्द में बनी है। हमारे हित के लिए बनी है और उसका कारण हम स्वयं नहीं हैं।** सुबह उठते ही यदि मुझे लगे, कि मैं तनावित हूँ, तो इसका कारण मेरी तुच्छ व संकीर्ण **'मैं'** है। ईश्वर ने आज मानस रूपी आकाश में

बादलों से मेरी एक आनन्दमय अवस्था बनाई है, उससे मैं तनावित हो गया। मेरे निराकार ईश्वरीय आनन्दमय मानस रूपी कैसेट में एक दृश्य या नज़ारे की Recording हो गई। वह मेरे मानस की इस क्षण एक अवस्था है, जो स्वयं में निराकार है। उसके अनुसार प्रस्तुति होगी। उस प्रस्तुति में मेरी अपनी देह भी होगी। उसका कारण मैं नहीं हूँ, वह मेरे लिए है। निराकार मानस है–**'जीवात्मा'।** उसमें नित्य नूतन मीनाकारी या Recording होती है। उसे विविध मायिक विधाओं के अलंकरण से सुशोभित किया जाता है। प्रत्येक अलंकरण निराकार होता है (अवस्था) और फिर उसकी साकार नाम-रूप में बाह्य प्रस्तुति होती है (व्यवस्था)। इस व्यवस्था में मेरी अपनी देह भी है और इस व्यवस्था रूप साकार प्रस्तुति का आधार मेरी देह के नाम-रूप की अवचेतना ही है।

उदाहरणतः हम किसी फिल्म की कैसेट लें तो उसमें समस्त अंकन निराकार में ही तो होता है, यह नहीं कि फिल्म में यदि हाथी, घोड़े हैं, तो कैसेट भारी हो जाए। मानस में वह समस्त अंकन ईश्वर द्वारा सूक्ष्म रूप से निराकार में होता है और उसकी प्रस्तुति साकार नाम-रूपों के दृश्यों में होती है। **ईश्वरीय आनन्दमय मानस में अलंकरण के लिए अंकन होता है और मानस का थोड़ा आच्छादन हो जाता है। नित्य नया डिज़ाइन होता है। इसे मानस की अवस्था कहते हैं।** मानस की उस निराकार अवस्था का प्रस्तुतिकरण साकार नाम-रूपों की सृष्टि में उस समय की व्यवस्था होती है। यह सब ईश्वर की माया है। जिसे मैं अपनी एक साकार देह की अवचेतना के माध्यम से अधिगृहीत करता हूँ। क्योंकि सृष्टि में विभिन्न समस्त नाम-रूपों की यह प्रस्तुत व्यवस्था मेरे एक नाम-रूप की देह की अवचेतना पर आधारित है। यदि मैं प्रगाढ़ निद्रा, मूर्च्छा, विस्मृति तथा मृतकावस्था में हूँ, तो अवस्था रूप में चाहे कितना भी अलंकरण अंकित हो, लेकिन मेरे लिए उसकी प्रस्तुति नहीं होगी। वह व्यवस्था रूप में Project नहीं होगी। सृष्टि की यह व्यवस्था मूलतः आनन्दमय मानस के उस अंकन अथवा अवस्था की यथातथ्य प्रस्तुति होती है। **हर अवस्था आच्छादन के**

साथ, अलंकरण अथवा शोभा के संवर्द्धन के लिए ईश्वर द्वारा निर्मित, पालित व संहारित होकर प्रस्तुत होती है।

सारी सृष्टि की इस प्रस्तुति अथवा व्यवस्था में दो पक्ष होते हैं–एक पक्ष है:–मेरी देह के नाम-रूप की अवचेतना तथा दूसरा पक्ष है–समस्त जगत। मेरे लिए इस समस्त क्रीड़ा के प्रारम्भ तथा अन्त का Main Switch मेरी एक देह में है। मैं अमुक-अमुक हूँ, यह अवचेतना होते ही तुरन्त उस समय की मानसिक अवस्था के अनुसार खेल प्रारम्भ हो जाता है। मेरी देह इस व्यवस्था अथवा खेल का एक अंग है। जब हम वी. सी. आर. में फिल्म लगाते हैं तो एक **'टिक'** की ध्वनि से फिल्म की प्रस्तुति पर्दे पर होनी आरम्भ हो जाती है। **सृष्टि की क्रीड़ा की प्रस्तुति में यह 'टिक' की ध्वनि 'मैं' है।** जब तक **'मैं'** साथ नहीं जुड़ेगी, तब तक मानसिक अवस्था, अदृश्य मन पर निराकार रूप में ही अंकित रहेगी, साकार व्यवस्था रूप में प्रस्तुत नहीं होगी।

अवस्था रूप में इस अदृश्य व निराकार अंकन का साकार रूप व्यवस्था है। इस व्यवस्था में दो पक्ष आते हैं। मेरी नाम-रूप की देह और उस पर आधारित उस समय का समस्त जगत। **दोनों एक ही अवस्था की व्यवस्था है, जो मूलतः परम आनन्दमय मानस के आनन्द के सम्वर्द्धन के लिए है।** 'मैं' साथ लगाने पर ही व्यवस्था प्रस्तुत होती है। **'मैं'** उस निराकार आनन्दमय मानस (जीवात्मा) का शब्द-रूप में प्राकट्य है। मैं (जीवात्मा) देह से पहले भी था, देह के दौरान भी हूँ और देह के जाने के बाद भी रहूँगा। जैसे सोने से पहले भी था, सोने के दौरान भी **'मैं'** था और जागने पर भी मैं होता हूँ। **'मैं'** ईश्वरीय निराकार मानस हूँ। जब देह से पहले मैं था, मैं स्वयं को **'मैं'** नहीं कह सकता था, जैसेकि सुषुप्ति के दौरान मैं नहीं कह सकता कि मैं सोया हूँ।

शब्द-रहित **'मैं'** निराकार मानसिक अवस्था की साकार प्रस्तुति रूप व्यवस्था का एक पक्ष (एक नाम-रूप की देह) बन कर शब्द-सहित हुआ। साकार सृष्टि का आधार एक नाम-रूप की देह की अवचेतना के बिना शब्द-रहित **'मैं'** (अघोषित), शब्द-सहित नहीं हो सकता। देह नहीं रहेगी तो

भी **'मैं'** हूँगा, लेकिन तब मैं नहीं कह सकता, कि **'मैं'** हूँ'। जब **'मैं'** देह के साथ जुड़ा तभी मैंने कहा, मैं था, मैं हूँ और मैं रहूँगा। काल की इन तीन विधाओं में **'मैं'** देह की सान्निध्यता में ही प्रकट हुआ, लेकिन उसी में भटका। **यदि देह न होती तो 'मैं हूँ' ही रहता। लेकिन नाम-रूप की देह की अवचेतना के बिना जीवात्मा 'मैं हूँ' भी नहीं कह सकता। क्योंकि 'मैं' जीवात्मा वर्तमान से भी परे ईश्वर की ही भाँति कालातीत है।**

व्यवस्था में जो मेरी देह है और समस्त जगत है—दोनों में परस्पर क्या सम्बन्ध है? नित्य निराकार मानसिक अवस्था व तदनुसार साकार नामरूपात्मक व्यवस्था पृथक् होती हैं। इसलिए मेरी देह रोज़ पृथक् होती है। इसे शास्त्र ने नित नूतन कहा है। **मुझे यह देह अविरल इसलिए लगती है, क्योंकि दो व्यवस्थाओं के मध्य का अकाल काल जीवात्मा के रिकॉर्ड में नहीं होता।** जब हम सोते हैं, तो हम नाम-रूप में नहीं होते, हमारा मानस बिल्कुल निराकार हो जाता है। **'मैं'** देह के रूप में ईश्वर-सम्मुख नहीं होता, लेकिन ईश्वर मेरे सम्मुख होता है। जैसे पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि व आकाश सहज जड़ हैं, ईश्वर सम्मुख नहीं हैं, लेकिन ईश्वर उनके सम्मुख होता है। इसलिए ये सतत गतिमान रहते हैं। हमारी पिछली तमाम अवस्था व व्यवस्था सुषुप्तावस्था में लय हो जाती है। **उस समय निराकार मानस पर पुनः अलंकरण के लिए ही पूर्णतः भिन्न दूसरी अवस्था का आनन्दमय अंकन होता है।** अज्ञानवश **'मैं'** देह को अपना स्वरूप मान लेता हूँ, तो **'मैं'** देह के साथ सो जाता हूँ। मुझे उस प्रगाढ़ निद्रा में विशेष आनन्द की अनुभूति होती है। यह उस मानस के प्राकृतिक मूल निराकारावस्था के अभावमय आनन्द की अनुभूति है। उस समय उसमें यदि किसी अवस्था का अंकन होता भी है, तो उसकी प्रस्तुति रूप में व्यवस्था नहीं होती। यदि होती है, तो वह मेरी स्वप्न-सृष्टि के रूप में प्रस्तुत होती है, जिसकी अनुभूति 'मैं' स्वप्न टूटने के बाद तथाकथित जाग्रतावस्था में करता हूँ।

जब जीवात्मा देह को अपना स्वरूप मान लेता है, तो देह की सुषुप्तावस्था में स्वयं को भी सोया हुआ मान लेता है। सुषुप्तावस्था में देह के

नाम-रूप की समस्त व्याधियों से मुक्त होने के कारण इसकी आनन्दमय स्थिति तो होती है, लेकिन उसका प्रकाट्य नहीं होता। क्योंकि वह तथाकथित सुषुप्त होता है। तथाकथित जाग्रत होकर उसकी देह का तरोताज़ा होना ही उसे यह कहने पर बाध्य करता है, कि मुझे नींद का आनन्द आया। निद्रा में देह व इन्द्रियों का कोई सुख नहीं था, न ही सुख-साधन था, अतः वह अभावमय अवस्था थी। लेकिन वह जड़ अवस्था थी, जिसकी क्षणिक अनुभूति **'मैं'** की देह के अवचेतना में आने पर हुई। व्यवस्था के प्रस्तुतिकरण का Main Switch मेरी नाम-रूप की देह में है, यद्यपि यह कुछ भी मेरे हाथ में नहीं है। आज जो कुछ व्यवस्था रूप में मुझे दिखाया जाना है, वह पहले से ही मानसिक अवस्था में अंकित हो चुका है। वह अंकन आनन्द में अलंकरण के लिए हुआ है। गीतोपदेश के दौरान भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को विराट रूप में यही दिखाया, कि समस्त अंकन हो चुका है। जिन्होंने तेरे द्वारा मारा जाना है, वे मर चुके हैं, तीर चल चुके हैं। तू मात्र व्यवस्था में प्रस्तुत होने वाला अर्जुन है, जो वही करेगा जो रिकार्डिंग में उसके लिए पूर्व निश्चित हो चुका है। मानव-देह धारण करके मेरा कर्म यही है, कि मैं तहे-दिल से इस परम सत्य की अनुभूति कर लूँ। ईश्वर द्वारा पूर्व अंकित इस समय की मानसिक अवस्था की प्रस्तुति के रूप में व्यवस्था में जो भी मेरे द्वारा या मेरे लिए हो रहा है, वह ईश्वर द्वारा किया गया अलंकरण है। वह मानस में अंकित विभिन्न मायिक विधाओं की आनन्दमय प्रस्तुति है। उसे मैं आनन्द में देखूँ।

मेरी नाम-रूप की देह और उस पर आधारित जगत दोनों एक समय की मानसिक अवस्था की व्यवस्था में होते हैं तो दोनों का परस्पर सम्बन्ध क्या है? हमने पहले कहा था, कि सृष्टि की क्रीड़ा जीवात्मा को दी एक नाम की देह और सम्पूर्ण जगत के मध्य होती है। अवस्था के रूप में मानस में अंकन निराकार में रहता है साकार में प्रस्तुतिकरण उस एक देह द्वारा व्यवस्था में होता है, जिसमें वह देह और देह पर आधारित जगत साथ-साथ प्रस्तुत होते हैं। बाहर जो सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड आनन्द में प्रस्तुत

होता है, उसका सम्पूर्ण संघनित स्वरूप उस समय मेरी वह एक नाम-रूप की देह ही होती है—सारा महाब्रह्माण्ड उस एक देह से ही प्रस्तुत होता है।

''जो ब्रह्माण्डे सो पिण्डे।''

वह देह और जगत दोनों उस समय की मानसिक अवस्था की प्रस्तुति होते हैं, जो उस निराकार मानस के आनन्द के सम्वर्द्धन के लिए ही मानस में अंकित हुए थे। नाम-रूप की देह की ठीक-ठीक वही अवस्था व व्यवस्था होती है, जो पूरे ब्रह्माण्ड की होती है। इसे नित नूतन कहा है। प्रश्न उठता है, जब सब कुछ पहले से आनन्दित मानस को और आनन्दित करने तथा उसके अलंकरण व सौन्दर्य सम्वर्द्धन के लिए होता है, तो हम इसमें दुःखी-सुखी क्यों होते हैं? **'मैं'** रोज़ उतना ही आनन्दित क्यों नहीं होता? **'दृष्टा जीवात्मा'** निराकार मानस है और वह देह को **'मैं'** मानकर (व्यष्टि मैं के रूप में), अथवा देह सहित समस्त व्यवस्था को **'मैं'** मानकर (समष्टि के रूप में) देख रहा है, या दोनों से परे हटकर अपने आनन्दमय ईश्वरीय मानस की **'दिव्य-दृष्टि'** से देख रहा है, तो इन अवस्थाओं पर उसका आनन्द निर्भर करता है।

समस्त व्यवस्था—एक नाम-रूप की देह का विराट या सूक्ष्म मण्डल है। जब **'मैं'** ने स्वयं को एक नाम-रूप देह (व्यष्टि **'मैं'**) मान लिया, तो समस्त जगत पृथक् हो गया। वहीं मैं सुख-दुःख, पाप-पुण्यादि से ग्रसित हो जाता हूँ। व्यष्टि **'मैं'** और समष्टि **'मैं'** दोनों एक नाम-रूप की देह की अवचेतना पर ही आधारित होती हैं। **प्रभु कृपा होती है, उसे प्रेरणा होती है, कि व्यष्टि-समष्टि रूप में समस्त व्यवस्था का अंकन तो मानस की अवस्था में ईश्वर द्वारा ही होता है। इसकी प्रस्तुति व लय मेरे हाथ में तो नहीं है। तो 'मैं' एक देह के रूप में 'व्यष्टि' या समस्त व्यवस्था रूप में 'समष्टि' का नज़रिया लेकर क्यों देखूँ?** जिसने इसे बनाया है और मेरे लिए प्रस्तुत किया है, उसकी **'दृष्टि'** से क्यों न देखूँ? जब सृष्टि का रचयिता ईश्वर है, तो उसके नज़रिए से जगत का अधिग्रहण करना ही मेरे लिए आनन्दमय होगा। देह के साथ ही **'मैं'** सो जाएगा, मूर्च्छित हो जाएगा

तो वह **‘दृष्टि’** कैसे मिलेगी? सद्गुरु कृपा करके निर्देश देता है, कि तथाकथित जागृति में जब तू (जीवात्मा) देह के साथ स्वयं को पहचानता है, तो तू अपने इष्ट व सद्गुरु में इतना लीन हो जा, कि तू हो, लेकिन देह न हो। **हे जीवात्मा ! वह तेरी जागृति होगी, उस समय तेरी देह हट जाएगी। वह समाधि की मानसिक अवस्था होगी। उस समय तुझे ईश्वरीय दृष्टि मिल जाएगी। उसके बाद जब तू उठेगा, तो तेरी देह दिव्य-देह होगी। जिसे भी तू देखेगा दिव्य-दृष्टि से ईश्वर-रूप में ही देखेगा।** व्यष्टि-समष्टि दोनों में **‘मैं’** देह तक ही रहा अब वह **‘तू’** ही **‘तू’** करने लगता है। जिधर देखता हूँ, उधर **‘तू’ ही ‘तू’** है। जब **‘मैं’** जीवात्मा उस दृष्टि से देखता है, तो उसकी देह वही होते हुए भी भौतिक व स्थूल नहीं होती। वह देहातीत दिव्य देह होती है।

मैंने **‘व्यष्टि-समष्टि’** प्रवचन में D.V.Dot के रूप में उस भ्रूणावस्था का सविस्तार वर्णन किया है, जब अदृश्य-प्रायः एक बिन्दु के रूप में किसी गर्भ में जीवात्मा को दी जाने वाली देह के लिए गर्भाधान होता है। उस अदृश्य-प्रायः बिन्दु (भ्रूणावस्था) में जीवात्मा के लिए समय-समय पर तीनों कालों में प्रकट होने वाली अवस्थाओं और व्यवस्थाओं के रूप में समस्त स्थूल व सूक्ष्म जगत सक्रिय रूप से अंकित होता है। यदि बुद्धि में चेतना के प्राकट्य पर **‘मैं’** अति विशिष्ट परम सद्गुरु-कृपा से साधना द्वारा उस मानसिक अवस्था में प्रविष्टि पा लूँ, तो उसकी व्यवस्था के रूप में मेरी **‘ऋतम्भरा’** का प्राकट्य होगा। वहाँ कोई मानवीय आभास नहीं होगा, क्योंकि दो तीन सप्ताह तक मेरे तथाकथित माता-पिता को भी कुछ ज्ञान नहीं था, कि मैं भ्रूण रूप में गर्भ में आ चुका हूँ। ऋतम्भरा चेतन बुद्धि की वह विधा है, जिसके प्राकट्य पर जीवात्मा ईश्वरीय रहस्यों को हृदयंगम कर सकती है। इसके बाद मेरे तथाकथित माता-पिता को मेरे गर्भ में आने का ज्ञान होने के साथ ही कुछ मानवीय हस्तक्षेप प्रारम्भ हुआ। फिर भी ईश्वरीय नियमानुसार एक निश्चित अवधि में माँ के गर्भ में बिना किसी हस्तक्षेप के यथाविधि मेरी देह का निर्माण हुआ। क्योंकि भ्रूण रूप में D.V.D. Dot में

समस्त अंकन सक्रिय रूप से हो चुका था। इष्ट-कृपा से उस मानसिक अवस्था में प्रविष्टि होने पर उसकी व्यवस्था में मेरी चेतनामयी बुद्धि में **'मेधा'** प्रकट हो जाएगी। **'मेधा'** शास्त्र व सद्‌गुरु के वचनों को ग्रहण करती है। एक समय पर मेरा पृथ्वी पर पदार्पण अबोध शिशु के रूप में हुआ, जिसका किसी से कुछ लेना-देना नहीं होता। लेकिन सब उससे बहुत सम्बद्ध रहते हैं। चेतनामयी बोधता में इष्ट-कृपा से उस मानसिक स्थिति में प्रविष्टि बुद्धि की तीसरी दिव्य विधा **'प्रज्ञा'** को अनावृत कर देती है। प्रज्ञा, जीवन के उतार-चढ़ाव व सुख-दुःख में स्थिरता व सम्यक् दृष्टि देती है। इसके बाद बाल्यावस्था की अबोधता में मैं माता-पिता के पूर्णतः आश्रित था, सब मेरे लिए सोचते थे। सद्‌गुरु-कृपा से बोधता में उस मानसिक अवस्था में प्रविष्ट होने पर बुद्धि में विवेक जाग्रत हो जाता है। विवेक जाग्रत होने पर मानव अपनी सोच पर सोचता है, कि अमुक सोच देहाध्यास में है अथवा ईश्वरीय है।

तथाकथित बौद्धिक विकास के साथ उसे ईश्वर की ओर से बुद्धि मिल जाती है। बुद्धि इसलिए मिलती है, कि अपनी बोधता में जीव उन चार मानसिक अवस्थाओं पर एकाग्र करते हुए सद्‌गुरु-कृपा से उसी भ्रूणावस्था वाली बिन्दु की मानसिक अवस्था में प्रविष्टि पा जाए। अबोधता से उतर कर बुद्धि तक आया। अतः चेतन बुद्धि से सोचे, कि तू मानव-देह धारण करके आया है, तो सोच, कि किस प्रकार ईश्वर तेरे लिए विभिन्न स्थितियों व सोपानों पर सब कुछ प्रबन्ध करता रहा। वह अब भी कर रहा है। समस्या वहाँ हुई, जहाँ बुद्धि के परिपक्व होते ही जीवात्मा को देहाध्यास हो गया, कि 'मैं देह हूँ और देह मेरी है' और यह गिरता ही चला गया। **बोधता को इसने अज्ञानता बना दिया, ऊर्ध्व-गमन के बजाय यह देह व देह पर आधारित जगत की विभिन्न अवस्थाओं तथा व्यवस्थाओं में फँस गया। 84 लाख पशु योनियों में भटकने लगा और मानव-रूप में भी पशुवत् जीवनयापन करने लगा।**

हम ऋतम्भरा से ही चले थे। मेधा, प्रज्ञा और विवेक से मात्र आई. क्यू. वाली बुद्धि से 'मैं' 'मैं' करने लगे। अब ज्ञात रूप से, अपनी कर्मठता

से सद्‌गुरु-कृपा व साधना द्वारा उसी बिन्दु या भ्रूण वाली मानसिक अवस्था को विकसित करना है, ताकि तदनुसार उसकी व्यवस्था में हमारी आच्छादित विवेक, मेधा, प्रज्ञा व ऋतम्भरा ये चारों दिव्य बुद्धियाँ जाग्रत हो जाएँ। तभी हम स्रष्टा द्वारा निर्मित, पालित व संहारित सृष्टि में विभिन्न 84 लाख मायिक प्रस्तुतियों का आनन्द ले पाएँगे। विवेक, प्रज्ञा, मेधा और ऋतम्भरा आन्तरिक रूप से परस्पर सम्बद्ध हैं। विवेक इनकी जननी है और ऋतम्भरा अन्तिम सोपान है। यह नहीं कि विवेक उत्पन्न हुआ तो प्रज्ञा आदि नहीं होंगी, ऐसा नहीं है। जो ऋतम्भरा युक्त होगा वह मेधावी, प्रज्ञावान व विवेकी भी होगा। जो प्रज्ञावान है वह विवेकी, मेधावी व ऋतम्भरा-युक्त भी होगा। विभिन्न व्यक्तियों में प्रधानता कभी किसी की होती है, कभी किसी की। **ईश्वरत्व व सन्तत्व वस्तुतः बुद्धि का विषय ही नहीं है।** समस्त सृष्टि ईश्वर की लीला है। जीवात्मा उसकी लीलाओं का दृष्टा है।

समय-समय पर हमारे जीवन में स्वतः विभिन्न अवस्थाएँ एवं तदनुसार व्यवस्थाएँ प्रकट होती रहती हैं। लेकिन देहाध्यासवश हम जीवन व देह में विभिन्न भविष्यों में उलझे हुए वर्तमान में प्रकट अवस्था-व्यवस्था का आनन्द नहीं ले पाते। जब मैं अविवाहित था, तो एक समय पर उस अवस्था और व्यवस्था में मन की एकाग्रता नहीं रही, तो मैं विवाह की इच्छा रखने लगा। मैं विवाहित हो गया, तो उस अवस्था की व्यवस्था तदनुसार सम्मुख आई। उसमें भी कुछ ही समय मन एकाग्र रहा, मैं कुछ और चाहने लगा। एक अवस्था जब तथाकथित समाप्त होती है, तो दूसरी अवस्था को प्रकट करके जाती है। **एक अवस्था का दूसरी अवस्था से कोई लिंक या सीधा सम्बन्ध नहीं होता। यह अक्रम-क्रम है।** जो तथाकथित क्रम दिखाई देता है, वह हमारा भ्रम ही होता है। यह अक्रम-क्रम होता है। क्रम होता है, लेकिन कल की और आज की इच्छा में कोई तारतम्य या निरन्तरता नहीं है। हमारी मानसिक स्थिति ही अवस्था और व्यवस्था के रूप में प्रकट होती है। मानसिक स्थिति बदलने पर अवस्था-व्यवस्था बदल जाती है और उसका अपना क्रम होता है।

'अवस्था-व्यवस्था' प्रवचन के प्रथम भाग में मैंने स्वप्न-सृष्टि का उदाहरण दिया है। मैंने एक डरावना स्वप्न देखा और मैं जागा, लेकिन वही डरावना दृश्य मन-मस्तिष्क में घूम रहा है। मैं स्वयं को स्वप्न की ही देह मानकर अभी भी भयभीत हूँ। यद्यपि जाग्रत होने पर मानसिक स्थिति बदलने पर स्वप्न की अवस्था और व्यवस्था दूसरी अवस्था-व्यवस्था में बदल गई। **लेकिन स्वप्न वाली देह के रूप में अवस्था व व्यवस्था से तद्‌रूप हुआ मैं अज्ञात रूप से एक और अवस्था-व्यवस्था बना लेता हूँ। यह मैं करता नहीं हूँ, हो जाता है।** मन में भय हो तो हर आहट पर अनेक प्रकार की निरर्थक आशंकाएँ होती रहती हैं। **अतः यहाँ अवस्था-व्यवस्था का अक्रम जैसा क्रम है।** स्वप्न से जागने पर स्वप्न की वह डरी हुई मानसिक अवस्था क्रम है, लेकिन इस क्रम का कोई अर्थ नहीं है। क्योंकि स्वप्न की देह रूप में अवस्था तथा उसकी व्यवस्था रूप में जंगल, शेर आदि तो लय हो गए, लेकिन इस तथाकथित जाग्रत देह की अवस्था तथा तदनुसार व्यवस्था रूप में दूसरा स्वप्न प्रारम्भ हो गया। दोनों में परस्पर सम्बन्ध न होते हुए भी सम्बन्ध है। हमारी विभिन्न मानसिक स्थितियाँ ही विभिन्न अवस्थाओं व व्यवस्थाओं के रूप में प्रकट होती हैं। **'मैं'** इन दोनों से परे विशुद्ध जीवात्मा हूँ। भयानक स्वप्न देखने के दौरान जो मेरी मानसिक अवस्था थी, कि मैं डरा हुआ, अकेला, त्रसित, लहुलुहान, भागता हुआ हाँफ रहा था, तथाकथित जाग्रत होने पर भी मेरी मानसिक अवस्था उसी पर आधारित होगी। यद्यपि स्वप्न की देश-काल, परिस्थिति तथा वह स्वप्न वाली देह उस सृष्टि के साथ लय हो गयी, लेकिन जाग्रत होने पर भी उस स्वप्न वाली अवस्था-व्यवस्था से प्रभावित मनःस्थिति में ही मेरी दूसरी अवस्था-व्यवस्था प्रकट होती है। इस क्रम का अर्थ कुछ नहीं है, लेकिन क्रम है। जन्म-दर-जन्म जीवन का यही सिलसिला है

देह व जीवन की एक ही ऐसी अवस्था है, जिसमें नाम-रूप की देह नहीं होती। **भस्मी, देह की वह निश्चित, परिलक्षित व दर्शित अवस्था है, जिसकी व्यवस्था में देह नहीं होगी।** वह भस्मी अवस्था देह के किसी कृत्य

का उत्पाद नहीं है। लेकिन वह अवश्य होगी और कुछ हो न हो। जीवन व देह में सभी भविष्य काल्पनिक हैं, वे पूरे हो भी सकते हैं और नहीं भी हो सकते। भस्मी ऐसा निश्चित, परिलक्षित व दर्शित भविष्य है, कि जीवन में हम कुछ प्राप्त करें या खोएँ, सुखी हों या दुःखी हों, वह तो आएगा ही। देह द्वारा हम कुछ भी पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, अच्छा-बुरा करें, उस भविष्य में उतरते ही वह देह व उस देह द्वारा हुए सब कृत्य अदृश्य हो जाते हैं। **अर्थात् भस्मी बनने के बाद देह की आवश्यकता नहीं होती। भस्मी बनने के लिए देह की आवश्यकता होती है, क्योंकि देह होगी तो भस्मी बनेगी।** भस्मी होने के बाद देह नहीं रहेगी, क्योंकि भस्मी का अतीत कोई देह नहीं है। पाप-पुण्य, पुरुषार्थ, भक्ति, पूजा, उपासना, ईश्वर की प्राप्ति, सुख-साधनों की प्राप्ति सबके लिए देह चाहिए और भस्मी बनने के लिए भी देह चाहिए। लेकिन जब भस्मी बन जाएगी, तो देह की आवश्यकता समाप्त हो जाएगी। अतः हमारे जितने भी प्रारब्धवश, आसक्तिवश संचित या थोपे हुए दैहिक कर्म हैं, भस्मी बनने के बाद उनमें से किसी की भी आवश्यकता नहीं रहेगी।

हम विवेक बुद्धि से विचार करें, कि जो भी कृत्य हम कर रहे हैं, उनका लक्ष्य क्या भस्मी बनना है? अपरोक्ष रूप से हम सब उसी ओर अग्रसर हो रहे हैं। किसी क्षण हमारी देह उस भस्मित अवस्था में आ सकती है, उस समय का हमें कोई ज्ञान नहीं है। परन्तु क्या हमारे कृत्य हमें भस्मी की ओर ले जा रहे हैं। प्रभु ने सबके समक्ष वह परिलक्षित लक्ष्य रख दिया, कि यह तो तू बनेगा ही। जीवन में कुछ कर या न कर, यह तेरा निश्चित भविष्य है। देह द्वारा हम जो भी करते हैं, उसके माध्यम से तो हम उस भविष्य में नहीं पहुँचेंगे, **लेकिन वह तो होगा ही। इस भविष्य में उतरने पर हमारे लिए देह का कोई महात्म्य नहीं होगा। जब देह का महात्म्य नहीं होगा, तो देह-जनित किसी कृत्य का भी कोई महात्म्य नहीं रहेगा।** देह के सभी आडम्बर व अलंकरण, नाम-रूप, धर्म-कर्म, कर्तव्य, नाम-यश, सम्बन्ध, पद-प्रतिष्ठा, देश-काल, मान-अपमान, पाप-पुण्य, लेना-देना, सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि वहाँ कुछ नहीं होंगे। भस्मी तो भस्मी है, भस्मी सबकी एक

ही है। भस्मी मेरी देह की ऐसी अवस्था है, जिसके प्रकट होने पर **'मैं'** जीवात्मा विदेह हो जाता हूँ। वह विदेह देह सबकी एक ही है। विदेह-देह देशातीत, कालातीत, सम्बन्धातीत, लिंगातीत, धर्मातीत, कर्मातीत, कर्तव्यातीत व गुणातीत होती है। **मेरी भस्मी वह अवस्था है, जो देह की किसी अवस्था-व्यवस्था से सम्बद्ध नहीं है। उसकी व्यवस्था में देह रहती ही नहीं। अपने में वह एक ऐसी अवस्था-व्यवस्था है, जिसके लिए देह की कोई अवस्था-व्यवस्था अपेक्षित नहीं है। देह व जगत से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है।**

यदि सद्गुरु-कृपा से जीते जी **'मैं'** देह के उस भविष्य से आत्मसात् हो जाऊँ, देह की वह भस्मावस्था मेरा वर्तमान बन जाए, तब मुझे इस देह की आवश्यकता नहीं रहेगी। तभी **'मैं'** अपनी सर्वव्यापक विदेह देह की अनुभूति कर पाऊँगा। इस स्थिति में जीवात्मा अपने मूल सच्चिदानंद स्वरूप में जाग्रत हो जाता है। वहाँ कोई भौतिक भस्मी नहीं होती। **जिस समय ध्यान में साधक देह को भस्मित देखता है, तो जीवात्मा में वैराग जाग्रत हो जाता है। वही इसका स्वरूप है, वही धर्म है।** उसके बाद देह द्वारा होने वाले इसके अपने सारे कृत्य अपना महात्म्य खो देते हैं। वह विदेह-देह में विचरता है।

जीवन-काल में सद्गुरु-कृपा से भस्मी से आत्मसात् होने पर देह के सारे आडम्बरों से मुक्त होकर वह देह के रहते हुए भी विदेह देह में विचरता है। **यह भी उसकी एक अवस्था होती है और उसकी भी एक व्यवस्था होती है। यह समस्त उसकी लीला होती है, वह विभिन्न देहों के विभिन्न रूपों में खेलता है।** इस खेल में उसका अपना कोई कर्म अथवा लिप्तता नहीं होती। विदेह देह सबकी एक ही है। इसलिए जिस मूड या अवस्था में यह विचरता है, उसकी व्यवस्था बन जाती है। साधु ने किसी को वरदान दिया, कि यह हो जाए। यहाँ उस अवस्था में वह स्वयं विचरता है, तो वैसी व्यवस्था प्रकट हो जाती है। उसमें कोई उसकी लिप्तता नहीं होती, मात्र लीला होती है। स्वप्न-सृष्टि हम आँखों से ही देखते हैं, जबकि हम आँखें बंद करके सोते

हैं तभी स्वप्न आता है। यदि प्रभु ने हमें स्वप्न-सृष्टि देखने के लिए चक्षु दिए हैं, तो वे वह दिव्य-दृष्टि हैं, जिनसे हमारा इष्ट स्वयं नज़र आता है। जब वे चक्षु खुलेंगे, तब वही-वही नज़र आएगा। यदि वह नज़र नहीं आएगा, तो योगी वह नज़ारा ही हटा देगा, कि मैं यहाँ क्या देखूँ! यदि तू इस सृष्टि में नहीं है, तो यहाँ देखने वाली चीज़ ही क्या है? प्रभु से रहित सृष्टि की किसी भी अवस्था-व्यवस्था का उसके लिए कोई महात्म्य नहीं होता।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(7 जून से 8 अगस्त 2006)

अवस्था एवं व्यवस्था

(भाग 3)

ईश्वरीय सत्ता (शिव-शक्ति-क्रीड़ा) द्वारा प्रकट सम्पूर्ण दृश्यमान सृष्टि में **'मानव-देह'** ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट रचना है। जब **'जीवात्मा'** देह के साथ तद्रूप हो जाता है तो यह जीव-सृष्टि में उतर आता है। इस जीव-सृष्टि के दो पहलू हैं—एक मानव-देह तथा उस पर आधारित उस समय का जगत, जिसका प्रकाट्य निराकार मानव-मानस पर अंकित अवस्था का साकार व्यवस्था के रूप में है। समस्त साकार सृष्टि का आधार वह एक मानव-देह **ही** होती है और सम्पूर्ण दृश्यमान सृष्टि में वह एक मानव-देह **भी** होती है। हम सब स्वयं को एक देह मान कर चलें, तो यह परम रहस्य सभी हृदयंगम कर सकते हैं। मेरे लिए देह रूप में **'मैं'** हूँ, तो जगत है, नहीं तो नहीं है। हम सभी स्वयं में उस एक निराकार मानस का प्रकाट्य हैं। उस मानस की कोई अवस्था और व्यवस्था हमारे हाथ में नहीं है।

योगी, शिव की भाँति आनन्द में स्वतः खेलता है और फिर स्वयं में सिमट जाता है। वह अद्वैत से द्वैत में खेलता है, फिर सब कुछ अद्वैत में समेट लेता है। लेकिन वह स्वयं किसी भी व्यवस्था का उत्तरदायी नहीं होता, क्योंकि मानस की प्रत्येक अवस्था का अंकन उसके पिता परमात्मा द्वारा किया जाता है। वह किसी भी खेल की इच्छा, आकांक्षा या कल्पना नहीं करता। जो परमात्मा द्वारा मानसिक अवस्था बनी, उसकी व्यवस्था के प्रकाट्य का वह आनन्द लेता है। इसका सारा रहस्य वह जानता है, द्वैत में खेलते हुए खेल की मस्ती लेता है और फिर स्वयं में सिमट जाता है। न किसी से कुछ लेना, न देना, न पाप, न पुण्य।

ईश्वर निराकार है और जीवात्मा भी निराकार है। इस द्वैत के नेपथ्य का विशेष अर्थ है। सृष्टि का निर्माणकर्ता, पालनकर्ता व संहारकर्ता निराकार व अदृश्य है और उसका दृष्टा जीवात्मा भी निराकार व अदृश्य हैं। दोनों ब्रह्माण्डातीत हैं। **'मैं'** जीवात्मा हूँ। यह **'मैं'** शब्द जीवात्मा का शब्द रूप में प्रकाट्य है। **यदि 'मैं' शब्द का उद्घोष न होता, तो जीवात्मा को कोई नहीं जानता और 'भस्मी' न होती, तो परमात्मा को कोई नहीं जानता।**

'मैं' ऐसा शब्द है, कि जब हमारी देह इसे लगाने की स्थिति में नहीं होती, तो वह देह स्वयं में निष्क्रय होती है। देह सक्रिय तभी होती है, जब वह **'मैं'** लगाती है। **'सक्रिय'** का अर्थ है, कि जब दृश्यमान सृष्टि का मेरे लिए प्रकाट्य होता है। **'मैं'** सो रहा हूँ, तो मेरे लिए कोई दृश्यमान सृष्टि नहीं होती। जैसे ही **'मैं'** जागता हूँ, तो मेरे लिए सृष्टि प्रकट हो जाती है। सृष्टि में दृष्टा रूप में एक मेरी देह और सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, दोनों साथ-साथ प्रकट और लय होते हैं। सम्पूर्ण दृश्यमान सृष्टि का आधार एक मानव-देह है, जिसे हम **'मैं'** रूप से इंगित करते हैं, कि मैं उठ गया हूँ। फिर मेरा यह, मेरा वह, शुरू हो जाता है। जितनी भी देह की अवस्थाएँ हैं—गर्भावस्था, शैशवावस्था, बाल्यावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, वृद्धावस्था सभी के साथ हमारी एक मानव-देह प्रकट या अप्रकट रूप में रहती है। जब **'मैं'** माँ के गर्भ में था, तो यहाँ **'मैं'** के साथ अप्रकट रूप में एक निर्माणरत देह जुड़ी रहती है। जब मैं नवजात शिशु था, उस अवस्था के साथ भी देह जुड़ी हुई थी। अतः सभी अवस्थाओं के साथ प्रकट या अप्रकट रूप से मेरी एक मानव-देह जुड़ी रहती है। **देह की मात्र एक ही अवस्था ऐसी है, जिसके साथ प्रकट या अप्रकट देह नहीं है। भस्मी** देह की निश्चित, दर्शित अवस्था है, लेकिन वह अवस्था देह की नहीं है। **जब देह की भस्मी अवस्था होगी, तो 'मैं' शब्द प्रकट नहीं होगा।** जीवात्मा होगा, लेकिन उसका **'मैं'** शब्द रूप में प्रकाट्य नहीं हो पाएगा।

जब देह ने जीवात्मा का **'मैं'** शब्द रूप में प्रकाट्य किया तो जीवात्मा नाम-रूप की देह के मोह में फँस गया। इसने स्वयं को देह मान लिया।

जबकि देह के कारण इसका मात्र प्रकाट्य हुआ है। जीवात्मा तो देह से पहले भी था, देह के दौरान भी है और देह के न रहने पर भी रहता है। लेकिन देह की अवचेतना के बिना **'मैं'** शब्द में उसका प्रकाट्य नहीं होता। देह की किसी भी अवस्था को **'मैं'** शब्द ही प्रकट करता है। **भस्मी ही देह की ऐसी निश्चित, परिलक्षित, दर्शित अवस्था है, जो कभी अपने साथ मैं' नहीं लगाती।** लेकिन विचित्र बात यह है, कि भस्मी के साथ कोई देह जुड़ी हुई नहीं है। **भस्मी देह की अवस्था है, लेकिन अवस्था देह की नहीं है।** यद्यपि **'मैं'** एक नाम की देह का ही शब्द रूप में प्रकाट्य है, लेकिन **मैं'** व्यष्टि भी है और **'मैं'** समष्टि **भी है।** इसलिए जीवात्मा एक मानव-देह में **बँधा हुआ सा भी बन्धनरहित ही है। क्योंकि बँधेगा तो तभी, जब एक देह में संकुचित रहेगा।**

'मैं' (जीवात्मा) यद्यपि जानता हूँ, कि डा. शिवकुमार के रूप में हूँ, तो सृष्टि है और यदि **'मैं'** डा. शिवकुमार के रूप में नहीं हूँ, तो मेरा कोई जगत भी नहीं है। लेकिन विवेक-बुद्धि से विचार करने पर **'मैं'** इष्ट-कृपा से जान जाता हूँ, कि मैं मात्र डा. शिवकुमार की देह तक सीमित नहीं हूँ। मेरी व्यष्टि सम्पूर्ण समष्टि के साथ सम्बद्ध है। मेरी **'मैं'** एक देह से बँधी हुई नहीं है। जब **'मैं'** एक देह के साथ बँध जाती है, तो जीवात्मा, जीव बन जाता है। **पहले उसे अपने देह होने का भरम होता है, फिर वह उसी देह और उस पर आधारित संकुचित से जगत में 'रम' जाता है।** देह की समस्त स्थितियों को वह अपनी मान लेता है, कि मैं पैदा हुआ था, मैं मरूँगा। **'मैं'** तो निराकार है, वह कभी न पैदा हुआ, न मरेगा। जब मैंने किसी नाम-रूप की देह की अवचेतना में स्वयं को पहचाना, तो जीवात्मा का **'मैं'** शब्द रूप में प्रकाट्य होता है। **'मैं'** शब्द जीवात्मा के देह रूप में प्रकटीकरण का द्योतक है। **निःशब्द रूप में जीवात्मा भी परमात्मा की भाँति ही अनादि व अनंत है।** देह की अवस्थाओं को सम्मुख रखते हुए हम कह देते हैं, कि जीवात्मा देह से पहले भी था, देह के दौरान भी है और देह के बाद भी रहेगा। देह के सान्निध्य में जीवात्मा का जब **'मैं'** शब्द-रूप में प्रकाट्य हुआ, तो उसने

अपना भूत, वर्तमान व भविष्य बोल दिया। **'मैं'** (जीवात्मा) मात्र देह की वजह से ही **'था', 'हूँ' और 'रहूँगा',** कहता हूँ। जीवात्मा तो है, लेकिन वह **'है',** देह की अवचेतना के बिना कहने में नहीं आता। जैसे परमात्मा है ही, वैसे जीवात्मा भी है ही—यह निराकार का द्वैत है।

देह के नाम-रूप की अवचेतना में जीवात्मा दृष्टा बन गया। प्रत्येक मानव स्वयं में दृष्टा है। जो देख रहा है, वह अपने अतिरिक्त सबको देखता है। आध्यात्मिक दृष्टि से हम मानव अपनी एक देह को लेकर इस परम सत्य की अनुभूति कर सकते हैं। हर दिन मानसिक अवस्था के अनुसार हमें देह मिलती है। इसके अनुसार साकार दृश्यमान सृष्टि व्यवस्था रूप में प्रकट होती है, जिसमें एक ओर हमारी एक मानव-देह तथा दूसरी ओर समस्त ब्रह्माण्ड का खेल चलता है। **वह एक देह सम्पूर्ण अवस्था और व्यवस्था का संघनित रूप है।** वह देह है, तो साकार दृश्यमान जगत है। वह देह नहीं है, तो जगत भी नहीं है। यह तथ्य सभी मानव-देहों के लिए सत्य है।

ईश्वरीय निराकार मानस में जीवात्मा के लिए, अलंकरण और आनन्द के प्रस्फुटन के लिए एक अवस्था अंकित हुई। उस अवस्था का प्रकाट्य एक देह के रूप में हुआ। वह देह जीवात्मा का **'मैं'** शब्द रूप में साकार प्रकाट्य है। मैं इसें स्वप्न-सृष्टि के उदाहरण से स्पष्ट करूँगा। कृपया एकाग्र कीजिए। मान लो, यहाँ गुड़गाँव के घर पर हम चार लोग परस्पर बातचीत कर रहे हैं। संध्या समय है, मौसम गर्म है, एक व्यवस्था है और यह मेरा स्वप्न है। **'मैं'** उत्तरकाशी के अपने घर में सोकर उठता हूँ। तो उठने वाला व्यक्ति शिवकुमार तो एक ही होगा, जैसेकि सोने वाला **'मैं'** शिवकुमार एक ही था। अब मैं तथाकथित जागकर सर्द मौसम में, प्रातःकाल 4 बजे, गंगा किनारे अपने घर में स्वयं को पाता हूँ। सोने वाला व्यक्ति शिवकुमार और उठने वाला व्यक्ति शिवकुमार यद्यपि एक ही लगते हैं, लेकिन हैं नहीं। क्योंकि स्वप्न वाले शिवकुमार ने स्वप्न देखा था और वर्णन यह जाग्रत शिवकुमार कर रहा है, जिसने वह गुड़गाँव वाला दृश्य देखा ही नहीं। इस तथाकथित जाग्रत शिवकुमार के लिए गुड़गाँव वाला वह दृश्य स्वप्न है,

लेकिन उसने वह दृश्य देखा नहीं है। क्योंकि वह तो रात को उत्तरकाशी में अपने घर पर सोया और वहीं से उठा है। जिस स्वप्न वाली शिवकुमार देह ने वह गुड़गाँव वाला दृश्य देखा था, वह स्वप्न में दृष्टा थी, लेकिन उसके लिए वह स्वप्न नहीं था और अब वह है ही नहीं।

जब मैं कहता हूँ कि मैंने स्वप्न देखा, तो 'मैं' उस दृष्टा (स्वप्न की एक देह शिवकुमार) और दृश्य (स्वप्न वाली देह पर आधारित जगत) दोनों का दृष्टा हूँ। अब हम उत्तरकाशी का परिवेश और सब कुछ छोड़कर मात्र उस तथाकथित जाग्रत शिवकुमार की देह को लें, जो स्वप्न के दृश्य की दृष्टा देह शिवकुमार और सम्पूर्ण दृश्य, दोनों का दृष्टा है। वह शिवकुमार की देह रात को सोई और स्वप्न-सृष्टि में वह एक देह और गुड़गाँव वाला सारा जगत प्रकट हुआ और तथाकथित जागृति में वह एक देह ही रह गई। समस्त साकार सृष्टि उसी के भीतरी मानस से प्रकट हुई, वह उसी के उदरस्थ थी, वहाँ से शिवकुमार निकल कर गुड़गाँव तो नहीं आया, वह वहीं का वहीं था और समस्त सृष्टि उसी में समाहित हो गई।

इस तथाकथित जाग्रत दैहिक अवस्था में जीवात्मा को यह ज्ञान हो गया कि मैंने एक स्वप्न-सृष्टि देखी, जिसमें मेरी एक नाम-रूप की देह और समस्त सृष्टि दृश्यमान थी। वह देह **'मैं'** नहीं हूँ, क्योंकि मैं कहीं आया गया नहीं। वह स्वप्न वाला शिवकुमार भी मैं नहीं हूँ और वह सृष्टि भी मैं नहीं हूँ। अगर मैं स्वप्न वाली देह शिवकुमार हूँ, तो समस्त जगत में और जो अन्य नाम-रूप थे, वे भी **'मैं'** ही हूँ। क्योंकि उस समस्त सृष्टि का दृष्टा यह तथाकथित जाग्रत शिवकुमार **'मैं'** ही हूँ। प्रश्न उठता है, यदि स्वप्न-सृष्टि के समस्त नाम-रूपों में **'मैं'** ही था, तो मैं शिवकुमार की ही मानसिक अवस्था को इस तथाकथित जाग्रत शिवकुमार में क्यों पाता हूँ? एक व्यक्ति को मैंने स्वप्न में सज़ा दी और मुझे (स्वप्न वाले शिवकुमार) बहुत प्रसन्नता हुई, तो जिस व्यक्ति को सज़ा मिली, उसे दुःख हुआ होगा। **'मैं'** तथाकथित जाग्रत होकर उसकी मानसिक अवस्था में स्वयं को क्यों नहीं पाता। जबकि मैं जान जाता हूँ, कि मेरे अतिरिक्त तो वहाँ कोई अन्य था ही नहीं। **यानि**

सम्पूर्ण स्वप्न-सृष्टि का एक दृष्टा होने के बावजूद भी एक नाम-रूप की देह की मानसिक अवस्था के साथ सम्बद्ध रहता हूँ। यद्यपि मुझे तथाकथित जाग्रत होने पर यह ज्ञान हो गया, कि वह स्वप्न-सृष्टि मेरी एक मानसिक अवस्था की व्यवस्था रूप में प्राकट्य थी। विभिन्न नाम-रूपों में **'मैं'** ही **'मैं'** था, तब **'मैं'** शिवकुमार विशुद्ध जीवात्मा कैसे हुआ? जबकि मैं उस स्वप्न-सृष्टि के तमाम नाम-रूपों में से एक देह की मानसिक अवस्था की व्यवस्था को स्वयं में ढोकर हर्षित या दुःखी होता हूँ। मैं वह शिवकुमार ही क्यों हूँ? इसलिए यहाँ जागृति पूर्ण जागृति नहीं है। **थोड़ा भ्रम रहने के कारण ही यह तथाकथित जागृति है। 'मैं' कौन हूँ? अभी मुझे मात्र इसका ज्ञान हुआ, कि मैं शिवकुमार सोया और एक सृष्टि मेरे ही उदरस्थ मानसिक अवस्था रूप में अंकित थी। जो स्वप्न-सृष्टि के विभिन्न नाम-रूपों में प्रकट हुई और फिर मैं तथाकथित जाग्रत होकर उस समस्त स्वप्न-सृष्टि की दृष्टा देह और दृश्य दोनों का दृष्टा बन गया। तो 'मैं' स्वप्न-सृष्टि का गुड़गाँव शहर या अन्य जो मेरे साथ बैठे थे, उनमें से कोई क्यों नहीं हूँ। मैं शिवकुमार ही क्यों हूँ? अभी भी मुझे अपनी विशुद्ध 'मैं' की अनुभूति नहीं हुई।**

एक ही सोया था, एक ही तथाकथित जागा है और स्वप्न-सृष्टि में जो कुछ भी चला वह उसी के उदरस्थ था। वहीं से प्रकट हुआ और लीन हो गया। **स्वप्न-सृष्टि की वह अवस्था भी प्रभु ने बनाई है और यह तथाकथित जागृति की सृष्टि की अवस्था भी प्रभु ने बनाई है। उसी की इच्छा से दोनों अवस्थाएँ तदनुसार व्यवस्था रूप में मेरे लिए प्रकट हुईं हैं।** हमारी अनेक मानसिक अवस्थाएँ ऐसी भी होती हैं, जिनका व्यवस्था रूप में प्राकट्य होता ही नहीं है। यदि होता भी है, तो न जाने किस रूप में होता है। प्रश्न उठता है, **'मैं'** कौन हूँ?

स्वप्न-सृष्टि की देह शिवकुमार के साथ तद्‌रूप होकर **'मैं'** रम गया था और तथाकथित जागृति में इस शिवकुमार की देह के सान्निध्य में **'मैं'** भ्रमित हूँ। तथाकथित जागृति में कम से कम **'मैं'** भ्रम में आ गया। मैं

स्वप्न-सृष्टि की शिवकुमार की देह को ही **'मैं'** मानकर स्वप्न का वर्णन कर रहा हूँ और स्वप्न-सृष्टि में जो सुख या दुःख उस शिवकुमार की देह को हुआ, उसी से मैं अब भी प्रभावित हूँ। यद्यपि मैं जान गया, कि वह सारी सृष्टि मेरे एक ही मानस का प्रकाट्य थी, जिसमें मैं स्वयं को शिवकुमार की देह मानकर रमा हुआ था। अब इस तथाकथित जागृति की मानसिक अवस्था में मैं उसी के मनोभावों से प्रभावित क्यों हूँ? **तो मुझे अपनी इस देह के विषय में भी सन्देह हो गया, कि कहीं यह मेरा दूसरा स्वप्न तो नहीं है। यद्यपि अब मैं पहले स्वप्न के दृष्टा और दृश्य दोनों का दृष्टा हूँ। अब मैं इस तथाकथित जाग्रत शिवकुमार की देह के सान्निध्य में व्यष्टि से समष्टि में आ जाता हूँ। भ्रम की इस अवस्था में इस समष्टिगत देह के साथ मैं अपने सद्‌गुरु या इष्ट के दरबार में आता हूँ, कि प्रभु ! मैं कौन हूँ? सद्‌गुरु भी वहाँ नाम-रूप में साकार देह में हैं।**

सद्‌गुरु मेरे भ्रम का निवारण करते हैं, कि बेटा स्वप्न वाले उस समस्त दृश्य को देखने के लिए तूने स्वप्न वाले शिवकुमार की व्यष्टि देह-दृष्टि ली। अवस्था ईश्वर ने बनाई थी और व्यवस्था रूप में प्रकाट्य ईश्वर ने तेरे लिए किया। तूने शिवकुमार की नज़र और नज़रिया लेकर व्यष्टि दृष्टिकोण से देखा। अब तू उस स्वप्न-सृष्टि के दृष्टा और दृश्य को तथाकथित जाग्रत होकर समष्टिगत नज़र और समष्टिगत नज़रिए से देख रहा है। जबकि वह समस्त सृष्टि, व्यष्टि-समष्टि सहित समाप्त हो चुकी है। **लेकिन अब भी तू नज़र भ्रम की ही ले रहा है,** कि दृष्टा और दृश्य दोनों **'मैं'** ही था, तू न वह व्यष्टि है न समष्टि है। तू यह शिवकुमार भी नहीं है, जो कह रहा है, मैंने स्वप्न देखा। सद्‌गुरु उसके भ्रम का निवारण करते हुए कहते हैं, कि समस्त सृष्टि साकार और दृश्यमान है। जबकि तू विशुद्ध जीवात्मा है, जो ईश्वर की ही तरह निराकार व अदृश्य है। यह देह जो ईश्वर ने तुझे दी है, वह अस्थाई रूप से एक बाना दिया है, इसलिए तू नज़र चाहे इस देह की इस्तेमाल कर ले, लेकिन नज़रिया ईश्वरीय रख। **क्योंकि अवस्था और व्यवस्था दोनों का कारण 'मैं' (ईश्वर) हूँ, 'तू' (जीवात्मा) नहीं है।**

शिव-शक्ति-क्रीड़ा जब भी होगी, तो निराकार में बनी अवस्था के साकार प्रकाट्य दो पक्षों में व्यवस्था रूप में होगी। एक जीवात्मा को दी गई देह तथा दूसरी ओर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड। यदि नज़रिया ईश्वरीय रखेगा तो उसमें किसी पक्ष को **'मैं'** नहीं कहेगा। तुझे हर नाम-रूप में **'तू'** ही **'तू'** (ईश्वर) नज़र आएगा। फिर जो देह जीवात्मा को दी जाती है, वह उसको भी **'तू'** ही कहता है। विशुद्ध जीवात्मा **'मैं'** रूप में रह जाता है–***'मैं' ने यार को जां बेजा देखा।'*** यहाँ **'मैं'** विशुद्ध जीवात्मा है। वह अपनी एक देह सहित समस्त दृश्य का दृष्टा बनकर विभिन्न नामरूपात्मक सृष्टि में ईश्वर की लीला का दिग्दर्शन करता है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(17 अगस्त, 2006)

अस्थिरता में स्थिरता

दृश्यमान जगत में कोटि-कोटि महाब्रह्माण्डों का नायक **'शिव'** (सच्चिदानंद) ही है। वही इनका निर्माणकर्ता, पालनकर्ता और कल्याणमय संहारकर्ता है। स्रष्टा शिव स्वयं में निराकार व अदृश्य है एवं उसकी निर्मित, पालित व संहारित सृष्टि का दृष्टा जीवात्मा भी स्वयं में अदृश्य व निराकार है। दोनों सच्चिदानंद है। यह सम्पूर्ण कोटि-कोटि महाब्रह्माण्ड की सृष्टि साकार एवं दृश्यमान हैं। **सच्चिदानंद की इस दृश्यमान एवं साकार सृष्टि का अवलम्बन लेकर ही उस निराकार एवं अदृश्य की अनुभूति सम्भव है। जीवात्मा को दी गई एक मानव-देह ही इस समस्त साकार एवं विविध नाम-रूपात्मक दृश्यमान सृष्टि का आधार है।** इसलिए मैंने इष्ट-कृपा से इसे देह-महापुराण की संज्ञा दी है।

शिव सद्, चेतन व आनन्द का अविरल एवं अकाट्य संगम है, अनादि, अनन्त, भगवन्त है। वह सौन्दर्य, ज्ञान, ख्याति, शक्ति, ऐश्वर्य एवं वैराग, छः विभूतियों व भगवत्ताओं से ठसाठस भरा है। शिव का एकमात्र मानस-पुत्र जीवात्मा भी उसी का अंश है। दोनों में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। दोनों परम स्थिर हैं और यह जगत सतत् गतिशील है। शिव स्वतः, स्वयं में एवं स्वान्तः सुखाय अपने **पाँच प्राणों**—प्राण, अपान, समान, उदान एवं व्यान की महाशक्ति तथा अतिशक्ति **'वैराग'** द्वारा खेलता है। इस क्रीड़ा में उसके सहज चेतन व अदृश्य **पंच-प्राण**—पृथ्वी, जल, वायु, आकाश एवं अग्नि के रूप में प्रकट हो जाते हैं। ये पंच महाभूत स्वयं में सहज जड़ हैं। सहज चेतन पंच-प्राणों का प्रकाट्य सहज जड़ है। अतः पाँच महाभूतों की समस्त क्रियान्वयन शक्ति शिव के वैराग की प्रतिरूप अदृश्य **'भस्मी'** है, जो इनके

कण-कण में समानतया समाहित रहती है।

शिव की इस वैराग शक्ति का सबसे चमत्कारिक व विलक्षणतम प्रमाण यह है, **कि ये सहज जड़ पंच-महाभूत स्वयं में पृथक्-पृथक् भी सहज रूप से अविरल गतिशील हैं।** पृथ्वी सतत् अपनी धुरी तथा सूर्य के चारों ओर घूमती रहती है, एक निमिष मात्र के लिए भी उसकी गति बन्द नहीं होती। वायु, जल, आकाश व अग्नि भी इसी प्रकार अविरल गतिमान हैं। सहज जड़ पंच-महाभूतों को स्वयं अपना तथा ईश्वर, दोनों का कोई ज्ञान नहीं है। वे एक विशिष्ट क्रम में तथा विशिष्ट ईश्वरीय निर्देश से गतिमान होते हैं। **पंच-महाभूतों की समस्त क्रियाशीलता विशेष निर्धारित क्रम में निरन्तर होती रहती है।** इस क्रियाशीलता में कहीं भी, किसी भी विशेष निर्माण, पालन अथवा संहार के लिए शिव द्वारा प्रेषित विशेष S.O.S. सन्देशों का प्रतिग्रहण व क्रियान्वयन भी पंच-महाभूतों में समाहित वैराग की प्रतिरूप अदृश्य भस्मी के माध्यम से ही होता है। इस प्रकार ये पंच-महाभूत सीधे ईश्वर के प्रतिनिधि हैं।

पंच-महाभूतों को अपना ज्ञान नहीं है। इसलिए इनका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। ये स्वयं क्रियाशील नहीं होते, इसलिए ये थकते भी नहीं हैं। वायु कभी नहीं कहती, कि मैं थक गई हूँ। दो मिनिट का मुझे विश्राम चाहिए, मैं चल नहीं सकती। **पंच-महाभूतों में एक निमिष के लिए भी यदि क्रियाशीलता का अभाव हो जाए, तो महाप्रलय हो जाएगी।** प्रभु जब सृष्टि में प्रलय व संहार आदि लाते हैं, तो इन पंच-महाभूतों में से किसी को शान्त करके नहीं लाते, बल्कि इनकी क्रियाशीलता को प्रचण्ड करके अथवा बढ़ा कर लाते हैं। वायु में आँधी-तूफान, जल में सुनामी, पृथ्वी में भूकम्प, अग्नि में प्रचण्डता, आकाश में बादलों की गरज, बिजली की कड़क, उल्का पिण्डों का गिरना आदि संहार व विध्वंस के कारण बनते हैं। **निर्माण, पालन व संहार सब कुछ आनन्द में एवं क्रियाशीलता में होता है।** शिव स्वयं में ठोस-घन-शिला है। ठोस, घन, शिला—तीनों शब्द शिव की महास्थिरता की पुष्टि करते हैं:—

''राम की दुहाई रे बाबा राम की दुहाई,
न कित आएबो न कित जाएबो।''

शिव ब्रह्मा है, शिव विष्णु है और शिव ही प्रलंयकर शंकर है। शिव टस से मस नहीं होता। इसी प्रकार उसका एकमात्र मानस-पुत्र जीवात्मा भी टस से मस नहीं होता। सम्पूर्ण कोटि-कोटि महाब्रह्माण्ड सतत् गतिशील व परिवर्तनशील हैं। हमेशा स्थिर पूजनीय होता है और अस्थिर द्वारा पूजा जाता है। **स्थिरता का भौतिक शब्दार्थ नहीं लेना चाहिए।** गति देह करती है। देहातीत स्थिर होता है। **हम मानव होने के नाते विवेक-बुद्धि एवं इष्ट-कृपा से अपनी देह की अस्थिरता तथा अपनी देहातीत स्थिति की स्थिरता का नित्य अनुभव कर सकते हैं।** हमें ईश्वर ने अपनी चेतनायुक्त बुद्धि से कृतकृत्य किया है। बुद्धि के असंख्य कार्य हैं और सबसे विशिष्ट एवं विलक्षण कार्य है—**सोच-विचार**। हम सोच सकते हैं, विचार कर सकते हैं, हम रोज़ सोते हैं, उस सुषुप्तावस्था में हमें विभिन्न स्वप्न भी आते हैं। तो सुबह उठकर हम अपने किसी भी स्वप्न पर विचार करें। उदाहरणतः मैं गुड़गाँव में अपने निवास पर सुन्दर पलंग पर जागा। रात को स्वप्न में मैंने देखा, कि मैं कुछ शिष्यों के साथ गंगा नदी के किनारे उत्तरकाशी की यज्ञशाला में तेरह दिनों का विशेष यज्ञ सम्पन्न करवाता हूँ। वहाँ विशेष गंगा-पूजन, विश्वनाथ-अभिषेक, मन्त्रोच्चार के साथ विशेष पूजा-प्रकरण व दान-पुण्य भी किए गए। समय-समय पर विशेष गीत-संगीत का आयोजन भी हुआ। अन्तिम दिन मैं गंगा जी में खड़ा दीप-दान कर रहा हूँ, कि मेरी नींद खुल गई। मैं स्वयं को अपने गुड़गाँव निवास के बिस्तर पर पाता हूँ।

मैं तथाकथित जाग्रत शिवकुमार अपने उस स्वप्न पर विचार करूँ—मेरी एक देह अभी-अभी उत्तरकाशी में गंगा जी में दीप-दान कर रही थी और पहले तेरह दिनों में उस देह द्वारा अपने शिष्यों के साथ जो विभिन्न पूजा-प्रकरण हुए, वे भी मुझे याद हैं। स्वप्न से जागकर गुड़गाँव निवास में बिस्तर पर इस देह के साथ तद्रूप हुआ, मैं उस स्वप्न वाली देह को भी मैं कह रहा हूँ, कि मैं (तथाकथित जाग्रत शिवकुमार) ने स्वप्न देखा। मुझे

भली-भाँति ज्ञान है, कि मैं देह के रूप में वो नहीं हूँ, जिसने उत्तरकाशी में वे समस्त दृश्य देखे थे। क्योंकि मैं तो आँखें बंद करके गुड़गाँव में अपने घर पर सोया था और उसी बिस्तर से उठा हूँ। **'मैं' कहीं गया-आया नहीं।** जिसने उत्तरकाशी में यज्ञ, हवन, पूजन आदि किए थे, उसके लिए वह स्वप्न नहीं था। स्वप्न वाली देह (शिवकुमार) उस समस्त सृष्टि के साथ समाप्त हो गई। अब यह तथाकथित जाग्रत देह (शिवकुमार) के साथ **'मैं'** तद्‌रूप हुआ कह रहा हूँ, कि मैंने स्वप्न देखा। उस स्वप्न का दृष्टा व साक्षी मेरे अतिरिक्त और कोई नहीं है, क्योंकि जो स्वप्न में अन्य व्यक्ति थे, वे स्वप्न के शिवकुमार की देह के साथ ही लीन हो गए। उस स्वप्न की देह को मैं शिवकुमार इसीलिए कह रहा हूँ, क्योंकि मैं इस तथाकथित जाग्रत देह (शिवकुमार) के साथ तद्‌रूप हूँ।

मैं यह तो विचार करूँ, कि अभी-अभी स्वप्न के एक दृश्य में मैं (स्वप्न वाला शिवकुमार) गंगा जी में खड़ा दीप-दान कर रहा था और अब **'मैं** (तथाकथित जाग्रत शिवकुमार) गुड़गाँव में बिस्तर पर हूँ। मुझे छोड़ो, वो गंगाजी कहाँ गईं। वे मेरे सारे शिष्य जो गंगाजी में मेरे साथ दीप-दान कर रहे थे, वे सब कहाँ गए। वे मन्त्रोच्चार करने वाले ब्राह्मण तथा नृत्य-गायन करता वह जन-समूह कहाँ गया? यह देह शिवकुमार जो उस स्वप्न का वर्णन कर रही है, इसने वे स्वप्न के दृश्य नहीं देखे। जिस देह शिवकुमार ने स्वप्न देखा, वह है नहीं तथा उसके लिए, उस समय वे दृश्य सपना नहीं थे। **मानव होने के नाते ये सब तथ्य विचारणीय हैं। इनके परिप्रेक्ष्य में विशेष जिज्ञासा यह उमड़ती है, कि 'मैं' कौन हूँ?** लोग कहते हैं, कि छोड़ो सपने की बात ! पर कैसे और क्यों? हमें ईश्वर ने अपनी चेतनामयी बुद्धि देकर इस संसार में भेजा है। **'मैं'** ईश्वर का एकमात्र मानस-पुत्र विशुद्ध जीवात्मा हूँ। मुझे दी गई पंच-महाभूतों की देह और उस पर आधारित सृष्टि मेरे लिए ही रची गई है। इस सृष्टि में ईश्वर द्वारा समस्त निर्माण, पालन व संहार मेरे लिए आनन्द में और आनन्द से ही हो रहा है। लेकिन मैं इसमें दुःखी-सुखी होता रहता हूँ। इसका कारण क्या है?

जिस तथाकथित जाग्रत देह के सान्निध्य में उसी देह को अपना स्वरूप मानते हुए **'मैं'** यह वक्तव्य दे रहा हूँ, कि मैंने स्वप्न में उत्तरकाशी में अपने शिष्यों के साथ तेरह दिन का यज्ञ सम्पन्न करवाया, कहीं यह देह भी तो स्वप्न की नहीं है। क्योंकि स्वप्न में हम कभी उसे स्वप्न नहीं कहते, जागकर कहते हैं, कि मैंने सपना देखा। **यह जिज्ञासा विवेकयुक्त बुद्धि में उभर आती है, कि कहीं मैं दूसरी स्वप्न-सृष्टि में तो नहीं विचर रहा, जिसमें दूसरी देह के सान्निध्य में पहली सृष्टि को स्वप्न घोषित करके मैं उसका वर्णन कर रहा हूँ।** तथाकथित जाग्रत देह के साथ जब **'मैं'** का सान्निध्य हुआ, तो पहली सृष्टि स्वप्न घोषित हो गई। मैं इस तथाकथित जाग्रत देह के साथ तदरूपता के कारण ही स्वप्न वाली एक शिवकुमार देह को **'मैं'** मान रहा हूँ। स्वप्न वाली शिवकुमार देह के स्वप्न से निकलते ही सारी सृष्टि समाप्त हो गई और उस शिवकुमार की देह की भस्मी भी नहीं है। इस तथाकथित जाग्रत देह के सान्निध्य में **'मैं'** स्वप्न-सृष्टि से प्रभावित हूँ। यद्यपि इस देह ने वह स्वप्न देखा ही नहीं। किसी भी भयानक स्वप्न से जागकर मैं डरा हुआ और चिन्तित होता हूँ और सुखद स्वप्न की पुनरावृत्ति के लिए लालायित भी रहता हूँ।

मैं मानव-देह धारण करके इन तथ्यों को उपेक्षित कैसे कर सकता हूँ? क्या मैं विभिन्न स्वप्नों में ही जीवन-लक्ष्य साधने का प्रयत्न तो नहीं कर रहा ? देह की दृष्टि में **'मैं'** विभिन्न स्वप्न सृष्टियों के दृश्यों के साथ सुखी-दुःखी भी होता हूँ। जबकि देह के रूप में **'मैं'** ने उन दृश्यों को देखा ही नहीं होता। **देह के साथ तद्रूपता ही उन स्वप्नों के सुख-दुःख का कारण है।** यह मैं स्वप्न से जाग कर जान जाता हूँ। जैसेकि कभी स्वप्न आए, कि मैं जंगल में जा रहा हूँ, तभी मैंने शेर की दहाड़ सुनी। मैं भागा तो मेरा पैर फिसल गया और मैं नदी में बहने लगा, तभी मेरी नींद खुल गई। अब तथाकथित जाग्रत देह तो बिस्तर पर है, इसे तो वह जंगल का कोई कष्ट हुआ ही नहीं। परन्तु स्वप्न के तात्कालिक प्रभाव में यह दुःखी व डरी हुई भी है। इस मिथ्या का **'सद्'** क्या है?

सद्-कर्म वही है, जो हमारा यह भ्रम तोड़ दे। **'मैं'** जीवात्मा जो शिव का मानस-पुत्र उसी की भाँति सच्चिदानंद, अदृश्य व निराकार था, एक साकार देह व सृष्टि का सान्निध्य पाते ही भ्रमित हो गया। भ्रमित होते ही उसे अपने देह होने का अध्यास हुआ और वह देह में ही **'रम'** गया। भरम का **'भ'** लुप्त हो गया और वह देहाध्यासवश देह और देह पर आधारित सृष्टि में ही **'रम'** गया। स्वप्न को मिथ्या मानते हुए इसने भुला दिया और मान लिया, कि जो अभी गंगा जी में दीप-दान कर रहा था, वह भी **'मैं'** था और अब यह सोकर उठने वाला भी **'मैं'** हूँ।

अब **'मैं'** (जीवात्मा) को भ्रम हुआ, कि दोनों देह एक जैसी बिल्कुल नहीं हैं। उस स्वप्न वाली देह की देश-काल व परिस्थिति आदि पृथक् थी, इस तथाकथित जाग्रत देह का सब कुछ पृथक् है। वास्तव में यह कहानी क्या है? **उस देह का मस्तिष्क पृथक् होगा, इस देह का मस्तिष्क पृथक् है। दोनों की स्मृति एक जैसी कैसे है?** हम कोई घटना अपनी स्मृति से सुनाते हैं, स्वप्न वाली देह तो स्वप्न के साथ समाप्त हो गई, तो मुझे इस तथाकथित जाग्रत देह में उस स्वप्न-सृष्टि की घटना की स्मृति कैसे है? वास्तव में यह स्मृति **'मैं'** (जीवात्मा) की होती है। **'मैं'** निराकार व अदृश्य है। **'मैं'** ने स्वप्न देखा। **'मैं'** वह शिवकुमार भी हूँ और तथाकथित जाग्रत यह शिवकुमार भी हूँ तथा **'मैं'** दोनों नहीं हूँ। **देह रूप में 'मैं'** दोनों हूँ और जीवात्मा की दृष्टि से मैं दोनों से परे हूँ। **'मैं'** न उत्तरकाशी गया, न अब गुड़गाँव में हूँ, लेकिन **'मैं'** हूँ। **'मैं' चेतन विशुद्ध जीवात्मा है, जो सर्वव्यापक और ईश्वर की रचाई समस्त सृष्टि का दृष्टा है। उसी के उदरस्थ है। इसमें युगों-युगान्तरों में करोड़ों महाब्रह्माण्डों की स्मृतियाँ अंकित हैं।** सतयुग, द्वापर, त्रेता व कलियुग सब में **'मैं'** कहाँ-कहाँ था, यह सब देख लेता है, क्योंकि पृथ्वी वहीं घूम रही है। **'मैं'** त्रिकालदर्शी है। उसका किसी देह से कोई लेना-देना नहीं है। समय-समय पर पंच-महाभूतों में प्रकट विभिन्न मानसिक अवस्थाओं रूप देहों तथा व्यवस्थाओं रूप जगत में सर्वत्र **'मैं'** (जीवात्मा) व्याप्त है। इसका कारण **'तू'** (परमात्मा) है।

उत्तरकाशी में स्वप्न वाली देह (शिवकुमार) **'मैं'** (जीवात्मा) की एक मानसिक अवस्था है और उसकी व्यवस्था में उत्तरकाशी का समस्त वातावरण यज्ञ-हवन आदि में रत शिवकुमार, गंगा जी, पूजा करने वाले ब्राह्मण, नृत्य-संगीत में रत जनसमूह आदि है। अब गुड़गाँव के घर में जाग्रत देह (शिवकुमार) **'मैं'** की दूसरी अवस्था है और तदनुसार व्यवस्था भी है। यहाँ **'मैं'** सतर्क हो गया, कि स्वप्न वाली देह तो गई, अब यह देह जो कह रही है, कि मैने स्वप्न देखा, पहले **'मैं'** इसकी जाँच करूँ। स्मृति तो मेरी (जीवात्मा की) है, **जीवात्मा स्वरूप में आकर 'मैं' दृष्टा बनकर इस तथाकथित जाग्रत देह और उस पर आधारित सृष्टि को भी स्वप्नवत् देखता है। 'मैं'** कहीं गया आया नहीं। **'मैं'** (जीवात्मा) वास्तव में परमात्मा के उदरस्थ हूँ। उसी की भाँति ठोस-घन-शिला व परम स्थिर हूँ। अपने पिता द्वारा निर्मित, पालित व संहारित विभिन्न सृष्टियों का **'मैं'** दृष्टा हूँ। देह मेरे लिए है, जो भागती-दौड़ती सी दृष्टिगत होती है। वह समस्त भाग-दौड़ भी मेरे भीतर ही होती है। मैंने (जीवात्मा) माया की एक विधा में एक देह (स्वप्न वाला शिवकुमार) व एक जगत को उत्तरकाशी में देखा, दूसरी विधा में देह (तथाकथित जाग्रत शिवकुमार) व दूसरा जगत गुड़गाँव में पाया। इसी प्रकार विभिन्न अन्य विधाओं में **'मैं'** जीवात्मा समय-समय पर विभिन्न 84 लाख मायिक देहों और उस पर आधारित सृष्टियों का दृष्टा है।

स्वयं में **'मैं'** टस से मस नहीं हुआ। सारा ब्रह्माण्ड गतिमान है। पंच-महाभूत सतत् क्रियाशील हैं और **'मैं'** जीवात्मा और **'तू'** परमात्मा दोनों परम स्थिर हैं तथा इन पंच-महाभूतों से परे हैं। **दोनों ब्रह्माण्डातीत हैं।** पंच-महाभूतों की समस्त क्रियाशीलता मेरे (जीवात्मा) लिए, तेरे (परमात्मा) द्वारा है। **'मैं'** एक देह का स्वामी हूँ। समस्त दृश्य देखने के लिए थोड़ा सा भ्रमित होकर मैं उस देह का अवलम्बन लेता हूँ, फिर अपने जीवात्मा स्वरूप में आ जाता हूँ। **पंच-महाभूतों में सब कुछ गतिमान सा है। वास्तव में गति है नहीं। देह और देह पर आधारित सृष्टि के सान्निध्य में जीवात्मा भ्रमित हुआ। यहाँ भ्रम के दो आयाम हैं। पहले आयाम में जीवात्मा जब भ्रमित**

हुआ तो इसे देहाध्यास हो गया। यह देह में ही 'रम' गया। 'भरम' का 'भ' हट गया और मात्र 'रम' रह गया। इस रमण में जीव बनकर विभिन्न जन्मों-जन्मान्तरों में भटकता रहा। फिर किसी जन्म में सद्‌गुरु-कृपा से इसे तथाकथित जाग्रत देह के साथ भ्रम हुआ, कि वास्तव मे सपने वाली देह तो मैं नहीं हूँ, तो मुझे सपने की घटनाओं की स्मृति कैसे है? '**मैं**' कौन हूँ?

जब **'मैं'** को चिन्ता हुई तो उसने सोचा, कि यह देह जो कह रही है, मैंने सपना देखा, यह भी कहीं सपने की तो नहीं है। **अब 'मैं' (जीवात्मा) सावधान हो गया। वास्तव में मानव-कर्म वही है, जिससे यह देह में 'रमण' भ्रम में बदल जाए। इस भ्रम से जिज्ञासा उत्पन्न होगी और इस दिशा में कर्म होगा, कि मैं कौन हूँ? अभी इसे ज्ञान नहीं होता, कि मैं कौन हूँ। लेकिन अपने बारे में भ्रम हो गया, कि देह को लक्ष्य करके जो यह मैं-मैं करता है वह देह, मैं नहीं हूँ। यहाँ से भ्रम टूटने के लिए कर्म का प्रारम्भ होता है।** यहाँ विचार होता है, जो शिवकुमार अभी-अभी उत्तरकाशी में गंगाजी में अपने शिष्यों एवं ब्राह्मणों के साथ दीप-दान, पूजा-अर्चना कर रहा था, वह कहाँ है? वह नहीं रहा। इतनी बड़ी सृष्टि का संहार हुआ, तो उसकी भस्मी तो होनी चाहिए। वह देश-काल, पंच-महाभूतों का समस्त प्रपंच लय हुआ, परन्तु भस्मी भी नहीं है। उस समस्त प्रपंच का आधार वह स्वप्न वाली देह ही थी, उसकी भस्मी भी नहीं है। यहाँ तीन मुख्य तत्त्व हैं, **एक है 'तू' (परमात्मा) महातत्त्व और दूसरा 'मैं' (जीवात्मा) दोनों निराकार व अदृश्य हैं। तीसरा है—पंच-महाभूतों में दृश्यमान प्रपंच का आधार जीवात्मा को दी गई एक देह।** वह एक देह ही अनेक हुई और इसी प्रकार विभिन्न सृष्टियाँ प्रकट व लीन होती रहती हैं।

मैंने मानव-देह का भौतिक वैज्ञानिक दृष्टि से पूरी तरह से अध्ययन किया और चिकित्सक बना। मृतक देह की चीर-फाड़ करके धमनियाँ, शिराएँ, जोड़, हड्डियाँ आदि विभिन्न अंगों के बारे में भौतिक जानकारी प्राप्त की। सम्पूर्ण विश्व में जितनी भी मानव-देह हैं, उनमें वही जोड़, नसें, हड्डियाँ और वही कार्य-प्रणालियाँ हैं। सबकी टांगें एक जैसी है, ढाँचा एक

है, लेकिन सबकी चाल पृथक्-पृथक् है। गला एक ही है, आवाज़ अलग-अलग है। नेत्र एक जैसे हैं, लेकिन दृष्टि पृथक्-पृथक् है। कान एक ही जैसे हैं, लेकिन एक ही बात का प्रतिग्रहण उन कानों द्वारा पृथक्-पृथक् होता है। नाक एक ही है, लेकिन गन्ध के बारे में सबके विचार पृथक्-पृथक् हैं। कइयों को हवन के धूने से बदबू आती है। जीभ एक ही है, पर स्वाद अलग-अलग हैं। त्वचा एक ही है, लेकिन स्पर्श की अनुभूति पृथक्-पृथक् है। मस्तिष्क एक ही जैसा है, लेकिन सबकी सोच बिल्कुल अलग-अलग है। हृदय की बनावट व कार्यप्रणाली सबकी एक जैसी है, लेकिन सम्वेदनाएँ व भावनाएँ पृथक्-पृथक् होती हैं। तो मैंने यह सोचा, कि मैंने क्या पढ़ाई की? एक ही रोग की दवाई एक देह को ठीक करती है, दूसरी देह को उससे एलर्जी हो जाती है। हृदय रोग विशेषज्ञों का अपना हृदय रुग्ण होता है। घुटनों के विशेषज्ञ अपने घुटनों का इलाज नहीं कर पाते। कहते हैं, कि अमुक डॉक्टर बहुत अनुभवी है। पचास वर्षों से चिकित्सा क्षेत्र में रत है। इन पचास वर्षों में उन्होंने पचास रोगी भी रोज़ देखे हों, तो उससे कई गुना अधिक बच्चे रोज़ विश्व में और पैदा हो जाते हैं। **मुझे अनुभव हुआ, कि मानव-देह के विषय में इस मानवीय बुद्धि से कुछ भी जाना नहीं जा सकता।**

मानव-देह की एक ही कार्य-प्रणाली है, लेकिन उसका क्रियान्वयन सबमें पृथक्-पृथक् है। हम चिकित्सकों ने मानव-देह का अध्ययन किया जो स्वयं में अधूरा ही नहीं, कुछ भी नहीं था। जिस देह का अध्ययन किया, वह मृतक देह थी। रोगों का अध्ययन जिन देहों पर किया, वे सामान्य देह नहीं थीं, रोगी देहें थीं। इसलिए हम डॉक्टरी की पढ़ाई में सर्वोत्तम डिग्री प्राप्त करके भी छब्बीस वर्ष की आयु में हिमालय की तराइयों में बसी विश्वनाथ की नगरी उत्तरकाशी में आ गए। यह अनुभूति हुई, कि इस साकार सृष्टि में कुछ ऐसा तत्त्व है, जो Common तो है, लेकिन जिसका Outcome अथवा निष्कर्ष बिल्कुल Uncommon है। डॉक्टरी की पढ़ाई में हमने Common तत्त्व का अध्ययन किया, लेकिन उसका परिणाम बिल्कुल Uncommon है। रोज़ देह के रूप में जो ढाँचे बनते हैं, वे स्वयं में पृथक्-पृथक हैं। इसलिए वे

सब Common में Uncommon हैं। अतः जो Common और Uncommon दोनों का Common हो, उसका अध्ययन अपेक्षित था। इसके लिए प्रभु-कृपा से हम उत्तरकाशी में केदार घाट के शमशान के निकट बस गए।

शमशान कोई भौतिक क्षेत्र नहीं है। यह वह मानसिक भूमिका है, जहाँ हमारी बुद्धि का समर्पण हो जाता है। जहाँ शान का शमन हो जाता है। जो Common और Uncommon दोनों में Common है, वह है– **'मैं' और 'भस्मी'। 'मैं'** जीवात्मा का शब्द-रूप में प्रकाट्य है, जिनके लिए देह की कोई सक्रिय अवस्था अपेक्षित है। **भस्मी मृतक व निष्क्रिय देह की ऐसी 'अवस्था' है, जो 'अवस्था' देह की नहीं है।** भस्मावस्था में देह पंच-महाभूतों में विलीन हो जाती है। बाल्यावस्था, शैशवावस्था, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था, मृतकावस्था, सुषुप्तावस्था, मूर्च्छावस्था, स्वप्नावस्था, विस्मृतावस्था, जाग्रतावस्था, तुरियावस्था, जितनी भी अवस्थाएँ हैं, वे सब देह की हैं। हमारी एक व्यक्तिगत नाम-रूप की देह उसमें होती ही है। मात्र **'भस्मी'** ही देह की वह अवस्था है, जो अवस्था देह की नहीं है, क्योंकि उसके साथ कोई देह नहीं है। भस्मी तत्त्वातीत तत्त्व है, जो Common का भी Common है, Uncommon का भी Common है। **'मैं'** (जीवात्मा) को देह से ही भ्रम हुआ था, कि मैं देह हूँ। सद्‌गुरु-कृपा से उपलब्ध तथाकथित जाग्रत देह से ही, देह की उस भस्मावस्था की अवधारणा का अभ्यास होने पर जब उसकी कृपा होगी **तब जीवात्मा को देह से हटकर भस्मी के साथ अध्यास होने पर देहाध्यास, भस्माध्यास में बदल जाएगा। इसकी स्मृति लौटने लगेगी और यह अपने स्वरूप में आने लगेगा।**

वैराग शिव की अतिशक्ति है, जो उसके पाँच प्राणों का आधार है। यह वैराग ही अदृश्य भस्मी के रूप में पंच-महाभूतों की देह व उस पर आधारित सृष्टि के कण-कण में समाहित समान **'तत्त्वातीत' तत्व** है। **जिस कर्म के लिए जीवात्मा को मानव-देह मिली थी, सद्‌गुरु-कृपा से इसके द्वारा वह कर्म होने लगा। यह स्थिर हो गया, क्योंकि इसे भस्माध्यास हो गया। जब इसे भस्माध्यास हो गया और यह स्वयं में आश्वस्त हो गया, कि मैं भस्मी**

हूँ, तो वह भस्मी कहाँ है? भौतिक भस्मी, देह की एक निश्चित, परिलक्षित व दर्शित अवस्था है। जीते जी **'मैं'** ने उसकी अवधारणा करते हुए ध्यान में देह को मृतकावस्था में देखा, देह का ध्यानाग्नि में दहन किया, फिर भस्मी बनी। **इस प्रकार इस तथाकथित जाग्रत देह का सदुपयोग किया, तो वहाँ मेरी वैराग की स्थिति जाग्रत हो गई, जो मेरी छटी विभूत्यातीत विभूति थी।** वैराग को उपेक्षित करके ही **'मैं'** पहले स्वयं को देह मानकर अपनी ही धरोहर सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य व ख्याति आदि विभूतियों के लिए दौड़-भाग कर रहा था। क्योंकि मुझे वैराग का ज्ञान नहीं था। अब भस्मी की अवधारणा परिपक्व होने पर वह वैराग जाग्रत हो गया और मुझे अनुभूति हो गई, कि सौन्दर्य आदि पाँचों विभूतियाँ मेरी अपनी हैं। **'मैं'** अज्ञानवश उन्हें देह में देखना चाह रहा हूँ। उस देह में जो थी नहीं और रहेगी नहीं तथा है भी नहीं। पंच-महाभूतों के समस्त प्रपंच का आधार मात्र मुझे दी गई एक नाम-रूप की देह है और स्वयं में वह भी नहीं है। इस प्रकार **'मैं'** को अपने सच्चिदानंद अदृश्य व निराकार स्वरूप की अनुभूति इस साकार दृश्यमान मायिक प्रपंच के द्वारा ही होती है। **वैराग की जागृति पर जीवात्मा ही शिव स्वरूप हो जाता है। देह व उस पर आधारित जगत की समस्त सक्रियता, तब उसके लिए लीला हो जाती है।** वह देह जिसका इसने सदुपयोग अपने स्वरूप की अनुभूति के लिए किया, वह देह दिव्य देह हो जाती है। **वह देह अस्थिर होते हुए भी स्थिर होती है, क्योंकि वह इस साकार दृश्यमान जगत में जीवात्मा का प्रतिनिधित्व करती है।** यह अस्थिरता में स्थिरता है, क्योंकि सृष्टि में समस्त सक्रियता के पीछे उसकी (जीवात्मा की) कोई अपनी चाहत नहीं होती।

भौतिक भस्मी की अवधारणा की सिद्धि का प्रतिफल वैराग है, जो शिव की अतिशक्ति है। यह भस्मी सबमें समान है। यह Common और Uncommon दोनों का Common तत्त्व है। **बिना वैराग के ईश्वर की भक्ति जाग्रत नहीं होती। वैराग ही धर्म है।** वैराग होने से पहले जीवात्मा पुरुषार्थ के प्रथम सोपान **'अर्थ'** तक ही रहता है। जहाँ देह के रागवश वह

स्वार्थ से तथाकथित भक्तिपरक प्रकरण करता रहता है। वैराग **'धर्म'** है और वैराग के बाद **'भक्ति'** ईश्वर की कामना के लिए होती है। तब यह पुरुषार्थ के तृतीय सोपान **'काम'** पर पहुँचता है। ईश्वर की कामना में भी भक्ति के दो आयाम हैं। एक तो ईश्वर की भक्ति, ईश्वर की भगवत्ताओं व विभूतियों के लिए की जाती है और दूसरे ईश्वर की भक्ति, ईश्वर के लिए होती है। ईश्वर के अनुरागी भक्त को मात्र ईश्वर से प्रेम होता है। वह उस प्रेम के बदले मात्र प्रेम चाहता है। यही पुरुषार्थ का चतुर्थ सोपान **'मोक्ष'** अथवा अनुराग है।

'बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(23 जुलाई 2006)

सदुपयोग-दुरुपयोग

मानव-देह हमें सौभाग्यवश मिली है। **भाग्य के साथ जब कृपा जुड़ जाती है, उसे सौभाग्य कहते हैं।** जब भाग्य के साथ ईश्वरीय कृपा का सान्निध्य न हो तो वह भाग्य भी दुर्भाग्य बन जाता है क्योंकि हम जीवन में किसी सुख या किसी दुःख का आनन्द नहीं ले सकते। निस्सन्देह हमें मानव-देह अति सौभाग्यवश मिली है। इसका हम सदुपयोग (सद्+उपयोग) करें।

मानव-देह हमें सौभाग्यवश और **'सद्'** उपयोग के लिए मिली है। **सदुपयोग हम तब करेंगे जब हमें ज्ञान होगा, कि मानव-देह का सदुपयोग कैसे करें?** वस्तुतः सद् की अनुभूति के लिए देह साधन है। **सद को प्राप्त करने के लिए सद्‌गुरु के निर्देशन में जो कुछ भी किया जाए, वह 'सदुपयोग' है अन्यथा 'दुरुपयोग' (दुर+उपयोग) होगा।** दुरुपयोग को और भी सरलीकृत करने के लिए मैं कहना चाहूँगा, कि परमात्मा से दूर होने के लिए किया गया कुछ भी प्रयोग, दुरुपयोग ही होगा। **'सद्' अर्थात् परमात्मा की सम्मुखता के लिए किया गया देह का उपयोग ही सदुपयोग है, अन्यथा दुरुपयोग है।** आज मैं सदुपयोग को बहुत ही सरलीकृत कर रहा हूँ। सच्चिदानंद परमात्मा हमारा अपना ही विशुद्ध स्वरूप है। वह हमें प्राप्त ही है। जब देह द्वारा इस सद् की प्राप्ति की हम अनुभूति कर लेते हैं, वही मानव-देह का सदुपयोग है।

प्रभु ने अपने छः गुणों से विभूषित देह हमें दी है। हमारा मन ईश्वरीय आनन्द से परिपूरित है और बुद्धि ईश्वरीय चेतना से ओत-प्रोत है। इन दोनों

के समन्वय से हुए कर्म **'सद्'** ही होते हैं। **'मैं'** (जीवात्मा) देह नहीं हूँ और देह मेरी भी नहीं है। **देह मुझे मिली है और किसलिए मिली है, यह देह मुझे जिसने दी है, उसी की कृपा से जानना होगा।** हम इच्छाएँ करते रहते हैं। इच्छा, इच्छुक हम देह के रूप में स्वयं बनते हैं। **'मैं'** (जीवात्मा) देह केऊपर अनधिकृत कब्ज़ा कर लेता है। इस अनधिकृत कब्ज़े के बाद हमारी समस्त क्रियाएँ ईश्वरीय दृष्टि में अवैधानिक और गैरकानूनी हो जाती हैं और हमारे द्वारा किए हुए अथवा हमारे द्वारा हुए प्रत्येक कृत्य से देह का दुरुपयोग ही होता है।

मैंने अपने पिछले प्रवचनों में दो भविष्यों की विस्तृत चर्चा की थी। जीवन **में** भविष्य और जीवन **का** भविष्य। जीवन **में** भविष्य असंख्य हैं और उनकी प्राप्ति भी अनिश्चित है। प्राप्ति हो भी जाए तो हमारा जीवन-काल ही अनिश्चित है। जीवन **में** भविष्य सबके पृथक्-पृथक् हैं, लेकिन जीवन **का** भविष्य **'भस्मी'** निश्चित है और सबका एक ही है। जीवन **में** भविष्य हमारे सामने पूरे होते हुए दृश्यमान हो भी सकते हैं, नहीं भी हो सकते। लेकिन जीवन **का** भविष्य परिलक्षित है और दर्शित है। **हमारे निर्माण के साथ ही हमारा संहार भी हो चुका है। हमें पूर्णतः निर्मित देह मिली है।** ज्योतिषी और जन्मपत्री से गणना करने वाले हमारा भविष्य बताते हैं, कि इतने वर्ष की आयु में अमुक घटना घटेगी। इसका अर्थ है, हमारे जीवन में जो कुछ होना है उसकी समस्त Recording हो चुकी है। समय-समय पर वे दृश्य हमारे सम्मुख आएँगे। उसीके अनुसार हमारी बुद्धि प्रेरित होगी एवं परिस्थितियाँ बनेंगी।

हम सब अपनी उत्कृष्टतम् बुद्धि से जानते हैं, कि हमारी देह का निर्माण, पालन और संहार किसी के भी हाथ में नहीं है। यदि हम यह मानते हैं, कि जो कुछ हम कर रहे हैं, उससे हमारा या हमारे बच्चों का पालन-पोषण हो रहा है, तो हम बहुत बड़े भ्रम में जी रहे हैं। **इसी भ्रम में हम जीवन में विभिन्न भविष्यों के लिए दौड़ते रहते हैं। मानव-देह हमें इस 'सद्' की अनुभूति के लिए मिली थी, कि जो देह हमें निर्मित मिली है, वह**

पालित भी है और संहारित भी है। हमारी देह का निर्माण जिसने किया है वही जानता है कि इससे क्या काम लेना है। इस Realisation के लिए अत्यधिक समर्पण और श्रद्धा अपेक्षित है। इसका एक ही उपाय है, कि जीवन **का** भविष्य (जो हमें कभी नहीं मिलेगा) के लिए तहे-रूह व मन से प्रार्थना करें, कि ''प्रभु ! मैंने किसी भी जीवन में अपने जीवन **का** भविष्य नहीं देखा, मुझे उसकी झलक दिखला दो।'' ईश्वर वह भविष्य हमें नहीं दिखाएगा, परन्तु जब उसकी अति कृपा होगी उसकी झलक अवश्य दिखा देगा।

जीवन **में** भविष्य पूरे होते रहते हैं, लेकिन हम नहीं जानते कि हमारी असंतुष्टि विकराल रूप लेती रहती है। अन्ततः आसक्ति बन जाती है और हम अकाल मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं। जैसेकि यदि हम अपना जीवन एक दिन का मान लें। दिन के अन्त में रात को सुषुप्ति के साथ ही जब हम देह की अवचेतना में नहीं होते तो, ईश्वरीय शक्तियाँ दिन में अपूर्ण रह गए कार्यों की असन्तुष्टि को आसक्ति में रूपान्तरित कर देती हैं। जब हम जीवन **के** भविष्य की एक झलक के लिए प्रभु से प्रार्थना करेंगे और प्रभु अति कृपा करके वह झलक भी हमें दिखा देंगे, **तब आसक्ति ही विरक्ति में रूपान्तरित हो जाएगी। आसक्ति वस्तुतः अशक्ति है। विरक्ति ही वीरता है, शक्ति है।** इसके बाद हम कभी किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा इनसे सम्बन्धित किसी भी विधा की इच्छा नहीं करेंगे। क्योंकि हमारी मानसिक स्थिति इतनी आनन्दमय होगी, कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की निधियाँ भी हमारे लिए महत्त्वहीन हो जाएँगी। **समर्पण के लिए भी विरक्ति चाहिए। जो विरक्त है, वही वीर शिरोमणि है। शक्ति के बिना समर्पण नहीं हो सकता। विरक्ति के बिना शक्ति नहीं मिल सकती।**

जब हम स्वयं इच्छुक बनकर, इच्छा को अपना मानते हुए स्वयं प्रार्थना करेंगे, तो हमारा लक्ष्य अभीष्ट वस्तु, व्यक्ति अथवा इनसे सम्बन्धित विधाओं की प्राप्ति अथवा खोना होगा। अभीष्ट के प्राप्त होने के बाद की मानसिक स्थिति पर हम विचार कर ही नहीं सकते, जबकि हमारी समस्त भटकन का

कारण हमारी मानसिक स्थिति है। गिलास आधा भरा था, उसकी मानसिक स्थिति अतृप्ति की थी। वह भर गया, तो लोटे को देखकर जो उसकी मानसिक स्थिति बनी, वह उसे भटकाती है और अतृप्ति की वृत्ति का रूपान्तरण असन्तुष्टि में हो जाता है। इसका अर्थ है, हम वस्तु नहीं चाहते, बल्कि मानसिक भटकन को वस्तुओं द्वारा शान्त करना चाहते हैं, जोकि असम्भव है। हमारी **आसक्तियाँ** हमें भटकाती हैं, जिसका समाधान केवल **विरक्ति** है।

सद्गुरु कहते हैं, कि तुमने जीवन **में** विभिन्न भविष्यों की कामना की और भटकते ही रहे। लेकिन जीवन **के** भविष्य की कामना कभी नहीं की। जीवन **में** जितने भविष्य हैं, वे आसक्तियों को बढ़ाते हैं। वस्तुएँ प्राप्त होती रहेंगी, अभीष्ट मिलता रहेगा, लेकिन मानसिक स्थिति और भी डावाँडोल होती रहेगी। **पूरे महाब्रह्माण्ड की निधियाँ प्राप्त होने पर भी जीव अतृप्त, असन्तुष्ट और आसक्त ही रहेगा।** तो हम अपनी मानसिक स्थिति के लिए कभी प्रभु से प्रार्थना क्यों नहीं करते कि ''प्रभु ! मेरी भटकन समाप्त करो, वस्तुएँ मिलती रहती हैं, लेकिन मेरा मन तृप्त नहीं होता। सिलसिला बढ़ता जा रहा है। जो प्राप्तियाँ होती हैं, मैं उनसे भयभीत भी रहता हूँ और यह जानना नहीं चाहता, कि मैं भयभीत क्यों होता हूँ? फिर और वस्तुएँ क्यों चाहता हूँ?''

कुछ भी पाने और भोगने दोनों के लिए शक्ति चाहिए। यह शक्ति विरक्ति से आती है। **जीवन में भविष्य आसक्ति है और जीवन का भविष्य विरक्ति है।** धन-सम्पदा, पद-प्रतिष्ठा, मान-अपमान, यश-अपयश, जन-बल आदि की उपलब्धि भौतिक प्रगति है। ये प्रगति होने के साथ-साथ मानसिक असंतुष्टि बढ़ती रहती है, जो अन्ततः मृत्यु के समय आसक्ति में ले जाती है। **अतृप्ति, असन्तुष्टि और आसक्ति मानसिक अशक्ति की तीन विधाएँ हैं।** भौतिक प्रगति की दशाएँ दिखाई देती हैं, लेकिन मानसिक दशा दिखाई नहीं देती। **बहुत सी शक्तियाँ प्राप्त करने के बाद भी व्यक्ति आसक्त ही देह त्यागता है। जो शक्तियाँ भौतिक रूप से प्राप्त करता है, वह सब यहीं छोड़**

जाता है और अदृश्य अशक्ति से परिपूरित मानस साथ ले जाता है। इसे जीवन में पूर्ण असफलता कहते हैं।

यह जो अदृश्य जगत है, वह बहुत महत्त्वपूर्ण है। लेकिन यदि सूक्ष्म मानसिक विश्लेषण करें, तो हम पाएँगे कि हम मानवों की दौड़ मुख्य 16 एषणाओं की ओर ही हैं। वह हैं—पुत्रेषणा, वित्तेषणा, नाम, धाम व कामेषणा, राज, साज व काजेषणा, बल व छल की एषणा, ध्यान व ज्ञानेषणा, इष्ट व अभीष्टेषणा, जीत व मीतेषणा। इनमें से कोई एक चाहत पूरी होती है, तो वह 1000 चाहतों का रूप ले लेती है। इस प्रकार मानव की पूर्ण दौड़ 16×1000=16000 तथा 108 माया के विशिष्ट स्वरूपों को मिलाकर 16108 चाहतों के लिए है। सारी चेष्टाएँ, क्रियाएँ और प्रयत्न दृश्यमान के लिए हैं। 16,108 चाहतें हमें असंख्य जन्मों में तड़पाती रहती हैं। जीवन **का** भविष्य एक ही है और सबका एक ही है। जीवन **में** भविष्य 16,108 हैं और सबके पृथक्-पृथक् हैं। जीवन **में** भविष्य **अनिश्चित** है और जीवन **का** भविष्य **सुनिश्चित** है, परिलक्षित व दर्शित है। वह है—**'भस्मी'**। जीवन **में** भविष्य **अनिश्चित** होते हुए भी **दृश्यमान** होते हैं, परन्तु जीवन **का** भविष्य **सुनिश्चित** होते हुए भी हमारे लिए **अदृश्य** रहता है। जीवन **का** भविष्य हम दूसरों का देखते हैं तो अपना क्यों नहीं देख सकते? प्रभु ने एक रहस्य रखा है। **प्रभु ने जीवन में भविष्य और जीवन के भविष्य के मध्य एक बड़ी सुदृढ़ दीवार रखी है। उसमें एक द्वार है, जिसके श्रीकृष्ण अधीश हैं, इसीलिए उन्हें द्वारकाधीश कहा जाता है। श्रीकृष्ण की कृपा से जीवन-काल में हमें जीवन के भविष्य की झलक मिल सकती है।** श्रीकृष्ण महा आसक्ति व महाविरक्ति दोनों के स्वामी है।

विरक्त ही सशक्त होता है। वह वीर ही भोग कर सकता है। आसक्त व्यक्ति कभी भी अर्जित शक्तियों का भोग नहीं कर सकता। अध्यात्म जीवन को गुणात्मक बनाने के लिए है। **क्षण भर की जीवन के भविष्य की झलक 16108 आसक्तियों को विरक्ति में रूपान्तरित कर देती है।** सद्गुरु कहता है, कि तू जीवन **के** भविष्य के दिग्दर्शन की इच्छा कर। प्रभु से प्रार्थना

कर, कि प्रभु सृष्टि तुम्हारे द्वारा निर्मित है। जो निर्मित है वह पालित है और जो पालित है वह संहारित भी है। इसीलिए मेरे जीवन-काल में मुझे मेरी भस्मी की झलक दिखा दो, जो बन चुकी है। सद्‌गुरु-कृपा से ही तुम यह प्रार्थना कर सकोगे। इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक व इच्छाफल प्रभु जब स्वयं बनेंगे, तभी यह प्रार्थना हो सकती है। **जब उसकी कृपा से वह झलक हमें मिल जाएगी, तो हमारे भीतर विरक्ति उत्पन्न हो जाएगी। हमारी समस्त आसक्तियाँ विरक्ति में रूपान्तरित हो जाएँगी। हमारी समस्त 'चाहतें' हमारी 'चहेतियाँ' बन जाएँगी।** आसक्तियों से भरा जीवन बिताते हुए यदि हम सद्‌गुरु-कृपा से प्रतिदिन मात्र कुछ क्षणों के लिए ही अपने जीवन के निश्चित भविष्य **'भस्मी'** पर एकाग्र करें, तो जिस प्रकार कि थोड़ा सा जामुन लगाने से बहुत सा दूध कुछ ही समय में दही बन जाता है, उसी प्रकार हमारी असंख्य आसक्तियों को मात्र क्षणिक विरक्ति का जामुन लग जाएगा। तब हम प्रभु-कृपा से विरक्ति की शक्ति का अवश्य आभास करेंगे।

कालान्तर में हमें वस्तुओं, व्यक्तियों और इनसे सम्बन्धित विधाओं की इच्छा ही नहीं रहेगी, बल्कि इन्हें हमारी इच्छा हो जाएगी। मानसिक आनन्द हमारा लक्ष्य होगा और आनन्द अभावमय है। ईश्वर के प्रकाट्य के लिए हमें हर्ष, उल्लास से परिपूरित निर्मल मन चाहिए। ईश्वर के भजन व सत्संग से मन निर्मल हो जाता है। पदार्थ स्वयं चरणों में आने लगते हैं और हमें उनका महात्म्य नहीं होता। **शक्तियों और प्राप्तियों के पीछे आसक्त ही भागता है। क्योंकि आसक्त वस्तुतः स्वयं में मानसिक रूप से अशक्त होता है। विरक्त के पास शक्तियाँ स्वयं आती हैं।** विरक्ति से स्थिरता आती है, फिर जीवन में जो भी प्राप्तियाँ होंगी वे स्वतः भाव से होंगी और उनका हम आनन्दपूर्वक भोग भी कर सकेंगे। यही मानव-देह धारण करके हमारा कर्म है। हम सद्‌गुरु-कृपा से अति सौभाग्यवश मिली मानव-देह का सदुपयोग करते हुए जीवन की प्रत्येक विधा में आनन्दित रहेंगे।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(8 से 11 नवम्बर, 2006)

यथार्थ मानव-जीवन

देह द्वारा किया गया कोई भी प्रकरण जो हमें देहातीत, लिंगातीत, कालातीत, देशातीत ले जाए और उसके बाद देह आनन्दित, उल्लसित व हर्षित हो—**वह महा पूजा-प्रकरण है।** परम ईश्वरीय कृपा से अवसादित, निराश, चिन्ताग्रस्त, भयभीत, त्रसित एवं मानसिक व शारीरिक रूप से रुग्ण देह से भी जब ऐसे प्रकरण होते हैं, तो उन प्रकरणों के बाद देह रुग्ण, त्रसित, भयभीत, निराश, चिन्ताग्रस्त व अवसादित नहीं रहती। **क्योंकि देह की मानसिक अवस्था ईश्वर से जुड़ने के बाद आनन्दमय हो जाती है।** मानव-जीवन एक उत्सव है। इसमें यदि नृत्य, गायन, संगीत, हवन-अग्नि व सुरभि नहीं है, तो वह जीवन ही नहीं है। **हर्ष, उल्लास, उत्सव, मेधा, प्रज्ञा, मस्ती, विवेक, ऋतम्भरा आदि दिव्य विभूतियों से युक्त जीवन ही मानव-जीवन है, अन्यथा मानव मृतक-समान है।** छोटा सा जीवन है। इसका कोई भी दिन नृत्य, गायन, उल्लास व उत्सव के बिना न जाए। नहीं तो वह दिन व्यर्थ हो गया। उत्सवमय जीवन ही असाधारण व यथार्थ मानव-जीवन है। यहाँ से अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष के सोपानों पर जीवात्मा की ऊर्ध्वगमन यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। सामान्य जीवन में अर्थ, निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ के सोपानों पर अधः पतन होता रहता है।

अर्थ से तात्पर्य केवल स्व+अर्थ यानि **स्वार्थ** से है। जब **'मैं'** मात्र अपनी एक नाम-रूप की देह तक सीमित रहता हूँ, कि मैं डॉ. शिवकुमार हूँ, शेष सब अलग हैं, तो मेरा दायरा अपने छोटे से परिवार, आस-पड़ौस, मित्र-शत्रु, लाभ-हानि, यश-अपयश आदि तक ही सीमित रहता है। मेरे हित

की बात नहीं रहती। देह सम्बन्धी प्राप्तियों, शक्तियों, पद-प्रतिष्ठा, धन-सम्पदा, सम्बन्धों आदि की दृष्टि से वह मेरी संकीर्ण सी **'मैं'** होती है। इसे **'व्यष्टि 'मैं'** कहते हैं। इस **'मैं'** के आधार पर हम सब चाहे कितनी भी उन्नति कर जाएँ, अन्ततः सीमित ही रहते हैं। **इस आयाम में हम मात्र जीवन के लिए जीते हैं।** हमारे द्वारा तथाकथित आध्यात्मिक व धार्मिक अनुष्ठान व प्रकरण जैसेकि यज्ञ-हवन, जप-तप, दान-पुण्य, ध्यान-पूजा, तीर्थ-यात्रा आदि भी निजी भौतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए होते हैं। यहाँ हमें ईश्वर की विभिन्न शक्तियों व देवी-देवताओं की कृपा से बहुत सी वस्तुएँ मिलती रहती हैं। उनका कुछ भोग भी मिलता है, लेकिन असन्तुष्टि रहती है और आनन्द नहीं मिलता। कई जन्मों तक जीव स्व+अर्थ—स्वार्थ तक ही रहता है। परन्तु किसी जन्म में एक समय पर वह इससे भी तंग आ जाता है, कि और भी बहुत कुछ मिल जाए, तो क्या हो जाएगा? इस सोपान पर ईश्वर से वह भौतिक रूप से कुछ नहीं चाहता। उसके सान्निध्य में बैठने का आनन्द आने लगता है। इसका चस्का पड़ जाता है। यहाँ चाहत समाप्त नहीं होती, बल्कि उसका रूपान्तरण हो जाता है। पहले तथाकथित भक्तिपरक प्रकरण परमात्मा का ध्यान-चिन्तन आदि स्वार्थवश होते थे, अब परमार्थवश होने लगते हैं। इसे **'सार्थ'** भी कह सकते हैं।

किसी न किसी जन्म में आकर जीव की प्रवृत्ति स्वार्थ से परमार्थ की ओर हो जाती है। **जैसे ही परमार्थ की ओर वृत्ति होगी, वहाँ से हमारी 'मैं' का विस्तार होना प्रारम्भ हो जाएगा और यथार्थ मानव-जीवन प्रारम्भ होगा।** देह और **'मैं'** दोनों में तदनुसार परिवर्तन व रूपान्तरण होना प्रारम्भ हो जाता है। पहले हमारी **'मैं'** मात्र नाम-रूप की देह तक सीमित थी, अब **'मैं'** का विस्तार अपने जगत के विभिन्न नाम-रूपों में होने लगता है।

यह यथार्थ मानव-जीवन ही दिव्य जीवन है। यथार्थ जीवन बहुत सी धन-सम्पदा, ऊँची पोस्ट, नाम-यश, जन-बल आदि से नहीं होता। यथार्थ मानव-जीवन देह से परे का जीवन है, जो आनन्दमय ही होता है। आनन्द देहातीत है। **अतः मानव-देह द्वारा हम इष्ट-कृपा से किसी भी तरह से**

और सब तरह से देहातीत स्थिति में पहुँच जाएँ, वही यथार्थ जीवन है। विश्व में असंख्य मानव देहधारी पैदा होते रहते हैं, मरते रहते हैं। युगों-युगान्तरों से यह सिलसिला चल रहा है। मानव-देहधारी होना और मानव देह धारण करके मानव-जीवन जीना दो पृथक् बातें हैं। जो मानव-जीवन जी रहा है, उसका मानव-देहधारी होना आवश्यक है; लेकिन जो मानव-देहधारी है उसके लिए यह आवश्यक नहीं है, कि उसका मानव जीवन भी हो। मानव-देह धारण करने के बाद तथाकथित होश सम्भालते ही हमारे जीवन की दो धाराएँ हो जाती हैं—**जीवन के लिए** जीवन जीना और **जीवन काहे के लिए है, के लिए** जीवन व्यतीत करना।

मुझे आत्म-विश्लेषण करना होगा, कि जीवन व्यतीत करने की दो धाराओं में से मैं किस धारा में जीवन जी रहा हूँ? मानव-देह धारण करके मेरी सोच व विचार, मेरी योजनाएँ-परियोजनाएँ, मेरे समस्त कृत्य, मेरी इच्छाएँ, आकांक्षाएँ, महत्त्वाकांक्षाएँ, मेरे भूत, भविष्य और वर्तमान सहित काल की तीनों विधाएँ तथा मेरा सब कुछ 'जीवन के लिए है' अथवा 'जीवन काहे के लिए है', की दिशा की ओर है। मानव होने के नाते यह सोचना परमावश्यक है। **यदि मैं मात्र जीवन के लिए किए जाने वाले कृत्यों में व्यस्त रहते हुए मानव-देह व जीवन का अमूल्य समय बिता रहा हूँ, अपनी समस्त ईश्वर-प्रदत्त बौद्धिक, शारीरिक व मानसिक शक्तियों को यदि मैं जीवन के लिए ही झोंक देता हूँ, तो मानव-देहधारी होते हुए भी मैं पशुवत् जीवन-यापन कर रहा हूँ।** आत्मरक्षा, अपना तथा अपने परिवार की सुरक्षा व खान-पान आदि के लिए पशुओं को भी प्रतिभाएँ मिली हैं। वे भी जन्म लेते हैं, खाते-पीते हैं, बच्चे पैदा करते हैं और मरते हैं। इसी प्रकार जीवन के लिए जीवन तो पशु भी जी रहे हैं। **मानव-देह में मानव-जीवन तब प्रारम्भ होता है, जब मानव की ईश्वरीय चेतना युक्त बुद्धि आनन्दमय मन के साथ यह विचार करने लगती है, कि 'जीवन काहे के लिए' है।**

सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड में ईश्वर की सर्वोत्कृष्ट, अति चमत्कारिक व परम

विलक्षण रचना मानव-देह है। **मानवेतर समस्त प्राणी, जीवन के लिए ही जीते हैं।** पशुओं को यह ईश्वरीय निर्देश ही नहीं है, कि वे 'जीवन काहे के लिए है', इस दिशा में सोच सकें। इसलिए वे पशु ही रहते हैं। थलचर, जलचर, नभचर आदि कीट-पतंगे, चूहे, साँप, बिच्छू, शेर, चीता, बैल, गधा, घोड़ा, हाथी जितने भी पशु-पक्षी हैं, वे सब जीवन के लिए ही जीवन जीते हैं। बैल, घोड़ा, गधा आदि जानवर पूरी ईमानदारी से, बिना संग्रह वृत्ति रखे कार्य करते हैं। वे फल की इच्छा भी नहीं रखते। सारा दिन कार्यरत रहने के बाद जो मिल जाता है, खा कर सो जाते हैं। **तो भगवान पशुओं के कर्मों के फलस्वरूप इन्हें मानव या देवता क्यों नहीं बना देते?** इन्हें जीवन में कोई उन्नति या Promotion क्यों नहीं मिलती? बड़ा विचारणीय विषय है। पशु हम मानवों के लिए कार्य करते हैं और फल की इच्छा नहीं रखते। मानव भी उनसे काम लेते समय यह नहीं कहता, कि हे पशु! तू काम कर और फल मेरे ऊपर छोड़ दे। बैल दिन-रात खेत में जोता जाता है, लेकिन लहलहाती फसल के रूप में फल तो किसान को ही मिलता है। बैल को तो वही अपना चारा मिलता है। वो भी किसान दे तो ठीक, नहीं तो यहाँ-वहाँ से मुँह मारकर वह अपना पेट भर लेता है। **तो इस प्रकार जीवन के लिए किए जाने वाले कर्मों का अर्थ ही क्या है?** कभी किसी घुड़सवार ने अपने घोड़े से यह नहीं कहा होगा, ऐ घोड़े! तू खूब तेज़ दौड़ (कर्म कर) और फल मेरे ऊपर छोड़ दे। क्योंकि रेस में जीत या हार के रूप में फल तो घोड़े वाले को ही मिलना है।

अत्यन्त विचारणीय विषय है, कि भगवान कृष्ण ने गीता में मानवों को क्यों कहा होगा, कि तुम कर्म करो और फल मेरे ऊपर छोड़ दो। कोई भी कर्म व्यक्तिगत कर्म नहीं है। किसी व्यक्तिगत कार्य के क्रियान्वयन में भी सम्पूर्ण महाब्रह्माण्ड सक्रिय होता है। हमारी अपनी देह की स्थितियाँ, पारिवारिक स्थिति, प्रकृति व मौसम की अनुकूलता, समाज, देश व विश्व की राजनीतिक, सामाजिक व अन्य स्थितियाँ, सड़क पर विभिन्न वाहनों की अवस्थाएँ, कार्य का होना या न होना कुछ भी हमारे हाथ में नहीं है। **तो ऐसा कौन सा कर्म है, जो मेरे हाथ में हो और जिसे करने का अधिकार ईश्वर ने**

मुझे दिया हो? हमारी व्यष्टि पूर्णतः हमारी समष्टि से सम्बद्ध है। हम अज्ञानवश एक नाम-रूप की देह में संकुचित हो कर समस्त समष्टि से स्वयं को काट देते हैं। **आज मैं इष्ट-कृपा से विश्व में प्रथम बार इस व्यास-गद्दी से मानवीय कर्म का रहस्योद्‌घाटन कर रहा हूँ।**

हमारी दो **'मैं'** हैं। डा० शिवकुमार **'मैं'** ही हूँ—यह मेरी **व्यष्टि 'मैं'** है। मैं डा० शिवकुमार **भी** हूँ। यह मेरी **समष्टि 'मैं'** है। **'मैं' ही हूँ'** को **'मैं' भी हूँ से जोड़ना ही मानव का कर्म है।** मानव-देह धारण करके यह कर्म नहीं करेंगे, तो हम पशुवत् जीवन यापन करेंगे और 'जीवन काहे के लिए है', यह सोचने का अधिकार ही ईश्वर द्वारा हमसे छीन लिया जाएगा। **जिस भी कर्म के द्वारा अपनी व्यष्टि 'मैं' को समष्टि 'मैं' से जोड़ा जाए, वह ही मानव-कर्म है, जिसका अधिकार ईश्वर ने मानव-देह धारी होने के कारण मानव को दिया है।** घोड़े, बैल, ऊँट आदि सारा दिन निष्काम कर्म करते हैं, क्योंकि फल की इच्छा नहीं रखते। वे स्वयं अपने लिए कुछ नहीं चाहते। फिर भी हर पशु, पशु ही पैदा होता है, पशुवत् जीता और पशु के रूप में ही मरता है। उसे पुनर्जन्म का अधिकार भी नहीं दिया गया। वह बोझा ढोते-ढोते ही मर जाता है।

मानव-देह धारण करके **'मैं' ही (व्यष्टि)** को **'मैं' भी (समष्टि)** से किसी भी प्रकार से जोड़ लीजिए, तभी हमें अधिकार मिलेगा, कि हम 'जीवन काहे के लिए है', इस दिशा में ईश्वर-प्रदत्त कर्म कर सकें। नहीं तो एक अवसर भी नहीं मिलेगा, जैसेकि पशुओं को नहीं मिलता। **पशुओं की 'मैं' अपनी एक देह तक सीमित रहती है और इसका भी उन्हें कोई ज्ञान नहीं होता।** व्यष्टि-समष्टि एक ही साथ प्रकट और लीन होती है अतः दोनों एक दूसरे के बिना नहीं हैं। यदि अपनी **व्यष्टि 'मैं' को समष्टि 'मैं' के साथ नहीं जोड़ेंगे तो हम ईश्वर-प्रदत्त अनेकानेक अद्‌भुत व महान, सहज प्राप्त सुविधाओं का उपभोग नहीं कर पाएँगे।** सब कुछ स्वतः हो रहा है, यह तभी अनुभव हो पाएगा, जब हम अपनी व्यष्टि **'मैं'** को समष्टि **'मैं'** से जोड़ देंगे। नहीं तो करोड़ जन्मों तक यह ज्ञात ही नहीं होगा, कि मेरे लिए सब कुछ

स्वतः हो रहा है। पूरे ब्रह्माण्ड में मेरी **'मैं'** मेरे लिए फैली हुई है।

समुद्र की हर बूँद समुद्र का ही अंश है, अतः स्वयं में सागर ही है। लेकिन यहाँ तो व्यष्टि रूप में हर बूँद ही एक दूसरे से पृथक् हो गई। **अपनी 'मैं' को जब मैं समष्टि के साथ जोड़ लूँगा और जोड़कर उसकी अनुभूति कर लूँगा, तभी मैं सद्गुरु-कृपा से जीवन में उसका सदुपयोग कर उस अनुभूतिगम्य जीवन का आनन्द ले पाऊँगा।** पहले हम इष्ट-कृपा से यह अनुभूति कर लें, कि मैं सारे जगत को साथ लेकर पैदा हुआ हूँ। जब मैं पैदा हुआ तो माँ, बाप, रहने का स्थान, घर-परिवार, समाज, देश सब कुछ बना-बनाया मेरे लिए ही प्रकट हुआ था। मेरे संगी-साथी जिन्हें मेरे साथ खेलना था, वे भी समय-समय पर मेरे लिए बनते रहे। वह स्कूल, कॉलेज भी मेरे पैदा होने से पहले ही बन गया था, जहाँ मुझे शिक्षा प्राप्त करनी थी। पत्नी या पति, जिससे विवाह होना था, वह भी मेरे लिए उचित समय पर प्रकट हो गए। जिस कार्यालय में मुझे नौकरी करनी थी या जहाँ व्यापार करना था, वह भी मेरे लिए बना-बनाया था।

इसका अर्थ है, कि **मुझे स्वयं में आश्वस्त हो जाना चाहिए, कि जीवन के लिए** किए जाने वाले कृत्यों के लिए तो मेरी आवश्यकता ही नहीं है। लेकिन मैं हूँ और मुझे मानव-देह मिली है। मैं यह भी जानता हूँ, कि मेरे पैदा होने से पहले भी दुनिया चल रही थी और मेरे दुनिया से जाने के बाद भी दुनिया का कोई कार्य रुकेगा नहीं। तो मैं किसलिए हूँ? माता-पिता के रूप में अथवा किसी भी रूप में किसी कार्य को करने के लिए मेरी आवश्यकता नहीं है। ईश्वर ने यदि मेरे द्वारा कुछ करवाना है, तो वह स्वतः करवा लेगा। कोई भी व्यक्ति यदि यह सोचता है, कि मेरे बिना मेरे बच्चे कैसे पलेंगे, तो उसे स्वयं में विश्वास कर लेना चाहिए, कि उसके बिना इस संसार में उसके बच्चे अवश्य ही बहुत अच्छे पलेंगे। किसी के बिना कुछ रुका हुआ नहीं है। **'सद्'** हमेशा कटु होता है। जब हम मात्र जीवन के लिए ही जीवन जीते हैं, तो निश्चय ही पशु से भी बद्तर स्थिति में हैं। मानव-देह में ईश्वर-प्रदत्त चेतनामयी बुद्धि से क्या मैं यह नहीं सोच सकता, कि बैल,

घोड़ा, गधा आदि पशु भी तो प्रभु द्वारा प्रेरित होकर ही कर्म करते होंगे, उन्हें क्या फल मिलता है? मुझे तो प्रभु ने मानव-देह दी है। सब कुछ करने-कराने वाले प्रभु हैं, तो मेरा कर्म क्या है?

मैं अपनी छोटी एक नाम-रूप की देह में संकुचित व्यष्टि **'मैं'** को अपने ब्रह्माण्ड की समष्टि **'मैं'** के साथ जोड़ दूँ, यही मानवीय कर्म है। **वह जुड़ी हुई ही है मुझे मात्र जानना है और मानना है।** शेष कार्य तो स्वतः ईश्वरीय विधान के अनुसार हो रहे हैं। मुझे मानव-देह देकर पृथ्वी पर उतारा गया है, कि मैं स्वयं को Realise कर लूँ। इस Realisation के लिए व्यष्टि-देह चाहिए। व्यष्टि देह में मुझे यह अनुभव करना है, कि संसार का निर्माणकर्ता, पालनकर्ता, संहारकर्ता ईश्वर है। समस्त सृष्टि स्वतः निर्मित, पालित और संहारित है। देह के रूप में मेरी यहाँ कोई आवश्यकता नहीं है। When I Realise, that as an individual I am not needed, I will realise my real individuality. If I realise my individuality I immediately attach myself with my totality. There is no difference in the realisation of individuality and totality. मानव-देह पाकर मैं यही अनुभूति कर लूँ, इसलिए मुझे देह मिली है।

अपनी व्यष्टि **'मैं'** की अनुभूति के लिए मुझे देह चाहिए। जब अपनी देह से ही मुझे अपनी वास्तविक व्यष्टि **'मैं'** का ज्ञान हो जाएगा, तो मेरी व्यष्टि तुरन्त समष्टि में रूपान्तरित हो जाएगी। **क्योंकि मेरी व्यष्टि मेरी समष्टि के बिना नहीं है और समष्टि का अस्तित्व मेरी व्यष्टि से है।** जिन्होंने यह अनुभव कर लिया है उन्हें महापुरुष कहते हैं। उनका स्वार्थ ही परमार्थ होता है क्योंकि उनका 'स्व' मात्र अपनी व्यष्टि देह तक सीमित नहीं होता, समस्त समष्टि उसमें समाहित होती है। जब हम स्वयं को समष्टि से जोड़ लेंगे, तो मानव-जीवन का यथार्थ–**(यथा+अर्थ)** यानि **'सार्थ'** सम्मुख आता है। नहीं तो स्व+अर्थ में व्यर्थ, निरर्थ और अनर्थ ही होगा। अनर्थ वहाँ होने लगता है, जहाँ जीव अपने द्वारा हुए कर्मों का अहं रखता है, कि मेरे बिना यह कार्य कैसे हो सकता था। तो **वहाँ जो भी प्राप्तियाँ होती हैं,**

उनका भोग नहीं मिलता तथा अहं के कारण मानस में हुई विपरीत प्रतिक्रिया का उत्पाद कभी न कभी प्रकट होकर जीना-मरना दुश्वार कर देता है। साथ ही प्रारब्ध अलग बनता है।

यथार्थ जीवन वह है जहाँ यह अनुभव हो जाए, कि सब कुछ स्वतः हो रहा है। **यथार्थ होता है और अनर्थ हम अहंवश, स्वार्थवश व अज्ञानतावश करते हैं।** यथार्थ में उतरने के लिए हमें यथार्थ-देह चाहिए। **यथार्थ-देह वह है, जब हम 'जीवन काहे के लिए है', इस दिशा में जीवन जीते हैं।**

हमारे शास्त्रों में गृहस्थी के लिए एक घड़ी यानि तीन घण्टे से अधिक जीवन के लिए कार्यरत रहना वर्जित माना गया है। दो घड़ी की निद्रा और शेष 5 घड़ियों में ईश्वर-चिन्तन, भजन, स्वाध्याय आदि मानव-देह में यथार्थ-जीवन के लिए परमावश्यक है। अधर्म क्या है? जब हम मानव-देह धारण करके यह भूल जाएँ, कि हम मानव हैं, तो वहाँ से अधर्म की शुरुआत हो जाती है। **मानव-धर्म यही है, कि हम मानव हों।** मैं मानव हूँ, इसकी पहचान यही है, कि मैं स्वयं में आत्म-विश्लेषण करूँ, कि मैं मानव-देहधारी होकर पशुओं से किन अर्थों में भिन्न हूँ। पशु, जीवन के लिए जी रहे हैं और यदि मैं भी जीवन के लिए ही जी रहा हूँ, तो मैं मानव ही कहलाने योग्य नहीं हूँ।

हम सब व्यष्टि रूप में समष्टि से जुड़े हुए ही हैं। मात्र इस परम सत्य की सद्गुरु-कृपा से अनुभूति करनी है। **यह जान जाएँ और मान जाएँ तो मानव-देह धारण करके यथार्थ-जीवन में प्रविष्टि हो जाएगी। सारा ब्रह्माण्ड मेरे लिए ही है। इसे जानना है और मानना है, यही मानवीय कर्म है।** इसके लिए भगवान की शरण में आना परमावश्यक है, क्योंकि हम अपनी बुद्धि से इसे न जान सकते हैं, न अपने मन से मान सकते हैं। इस बुद्धि के पूर्णतः समर्पित हुए बिना अध्यात्म के द्वार पर दस्तक देने के अधिकारी हम नहीं हो सकते। यथार्थ जीवन में प्रविष्टि हमारे लिए असम्भव ही रहेगी। **व्यर्थ, निरर्थ और अनर्थकारी** कृत्यों में ही हम मानव-देहधारी होते हुए भी जन्म-दर-जन्म भटकते रहेंगे। **समर्पित बुद्धि ईश्वरीय चेतना**

युक्त हो जाएगी और मन इस परम सत्य को मानकर ईश्वरीय आनन्द से ओत-प्रोत हो जाएगा। दोनों के पारस्परिक सामंजस्य से फिर यथार्थ अथवा 'सद्' का प्रकाट्य ही होगा। मानवीय बुद्धि इसलिए हमें मिली है, कि हम जान जाएँ, कि बुद्धि से यह जाना नहीं जा सकता और बुद्धि समर्पित हो जाए। उसके बाद कृपा होगी तो हम उसे मन से मान भी जाएँगे। जब मन से मान लेंगे, तभी वह अनुभूति या Realisation बनेगी। **जीवन के इसी अन्तिम परम 'सद्' की स्वीकृति की प्रमाणिकता, सत्यापन व पुष्टि का नाम सिद्धि है।** यह सत्यापन व पुष्टि सद्गुरु द्वारा ही होगी। इसलिए सद्गुरु की शरण में हमें समर्पित भाव से श्रद्धापूर्वक अपना सर्वस्व समर्पित कर देना है।

जो मेरा है, वह सबका है, यानि हमारा है। जो सबका है, वह मेरा भी है। जो मेरा है वह सबका है, इसमें मेरा हिस्सा तो थोड़ा सा ही हुआ। दूसरे, जो सबका है, वह मेरा भी है; **अपना 'छोटा सा' समर्पित करके पूरे ब्रह्माण्ड की निधियाँ हमारे लिए हो जाएँगी।** यह तभी सम्भव हो पाएगा जब हम अपनी संकुचित व्यष्टि **'मैं'** को समष्टि में समाहित कर दें। हमसे तो अपना व्यष्टिगत भी समेटा नहीं जाता, उसका भी भय लगा रहता है। **अभय होने के लिए अपना छोटा सा व्यष्टिगत, अपनी समष्टि को देना है और भूल जाना है।** प्रभु-कृपा से समर्पण का समर्पण हो जाए, क्योंकि यहाँ हमारा कुछ नहीं है। जो कुछ है, वह सब प्रभु का ही है। हमने क्या देना है और किसे देना है? समर्पित एक नाम-रूप की व्यष्टि का करना है और अधिकार हमें समष्टि के मिल जाएँगे। वस्तुएँ और प्राप्तियाँ हों न हों, लेकिन वह अधिकार एक जन्म नहीं जन्म-दर-जन्म प्राप्त ही रहेगा। इसे स्वामित्व कहते हैं।

हमारी **'मैं'** जितनी विराट व समष्टिगत होगी, हमारा स्वामित्व उतना ही अधिक होगा। अपनी **'मैं'** के विस्तार के लिए अपनी व्यष्टि रूप में नाम-रूप की देह तक सीमित **'मैं' को खोना है।** जब बीज भूमि में बोया जाता है तो बीज स्वयं का जन्मदाता बन जाता है। व्यष्टि, समष्टि में परिणत होकर स्वयं को खो देती है। व्यष्टि को खोकर ही समष्टि में प्रविष्टि होती

है। जैसे एक बीज मिट्टी में मिट्टी बनकर अनेक बीजों का रूप हो जाता है :–

"खुदी को कर बुलन्द इतना कि हर तकदीर से पहले
खुदा बन्दे से खुद पूछे बता तेरी रज़ा क्या है ?"

जब हम खुदी को समाप्त कर देते हैं, तो खुदी बुलन्द हो जाती है। यह सब कार्य कैसे हो ? इसका मात्र एक ही उपाय है, कि हम मात्र ईश्वर के शरणागत होकर पड़े रहें। वह स्वयं जनवाएगा और मनवाएगा, कि किस प्रकार **'मैं'** स्वयं को समष्टि में समाहित करूँ। परोपकार हमारा स्वभाव बन जाए। हम सबके लिए प्रार्थना करें। समस्त प्राणी जगत के लिए हम में दया-भाव हो। पूर्णतः वातानुकूलित व स्वचलित यह मानव-देह हमें केवल अपने निजी जीवन के लिए ईश्वर ने दी होगी, यह बात युक्ति संगत बिल्कुल भी नहीं लगती। मानव-देह प्राप्त करने के बाद परमार्थ की ओर बढ़ना ही सार्थक जीवन जीना है। यही मानव-जीवन का **'सार्थ'** है। परमार्थ और यथार्थ मानव-जीवन में प्रविष्टि से व्यष्टि **'मैं'** (Individuality) से समष्टि **'मैं'** (Totality) हो जाती है। हम बहुत ही संवेदनशील हो जाते हैं। देह, वही रहती है लेकिन देह का रूपान्तरण हो जाता है। जो देह अधः पतन में अर्थ (स्वार्थ) निरर्थ, व्यर्थ, अनर्थ तक सीमित थी, अब वह परमार्थ (**'सार्थ'**) की ओर प्रवृत्त होने लगती है। पुरुषार्थ के अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष सोपानों की ओर ऊर्ध्वगति करती है। देह में सफलता, सौन्दर्य और संवेदनशीलता के साथ हममें अधिकार आना शुरू हो जाता है। जब हमें अपनी एक नाम-रूप की अर्थपूर्ण देह पर अधिकार होता है वहीं से **'मैं'** का समष्टिगत रूपान्तरण होता है और अपने जगत के समस्त नाम-रूपों पर अधिकार होने लगता है। हमें हरेक की मानसिक स्थिति का दिग्दर्शन होने लगता है क्योंकि वह हमारा ही विस्तार होता है।

हमारी सबकी देह की भस्मी अवश्य बनेगी। देह के रूप में हम और कुछ बन सकें या न बन सकें, भस्मी अवश्य बनेंगे। भस्मी बनने के लिए हमें किसी को भी कुछ नहीं करना पड़ता। **जीवन व देह में अन्य भविष्यों के**

लिए हम स्वप्नों में भी संघर्षरत रहते हैं। ये सब भविष्य हमने थोपे हुए हैं। क्योंकि सब कुछ स्वतः हो रहा है और हम समझते हैं, हमारे करने से हो रहा है। इसलिए ये सभी भविष्य **'भय'** और **'विष'** बनकर हमारे जीवन का समस्त आनन्द समाप्त कर देते हैं। भस्मी भी हमारा भविष्य है, यह थोपा हुआ नहीं है, यह है ही। यह निश्चित, परिलक्षित और दर्शित भविष्य है, लेकिन यह किसी ने देखना नहीं। न हमने स्वयं को पैदा होते हुए देखा है और न मरते हुए देखना है। इसलिए जो भस्मी हमारे मरने के बाद बननी है, उसे हम कैसे देख सकते हैं। हम सब व्यक्तिगत रूप से एक दूसरे से पूर्णतः भिन्न हैं, लेकिन जब तक **'मैं'** को अपने साथ नहीं लगाते हम बेकार होते हैं। हर व्यक्ति स्वयं में बहुत Unique और सुन्दर है। सभी यह सोच सकते हैं, कि मेरे जैसा विश्व में न कोई था, न है और न होगा। लेकिन मैं समस्त जगत को साथ लेकर प्रकट होता हूँ। अतः जीते जी हम जब सक्रिय होते हैं तो हम सबकी **'मैं'** Common है। मेरी **'मैं'** हमारी **'मैं'** है। इसी प्रकार मृत्यु के बाद हमारी **'भस्मी'** Common है।

जीवन-काल में जीते जी सुषुप्तावस्था के दौरान हम **'मैं'** नहीं लगा सकते। **'मैं'** सो रहा हूँ, कोई नहीं कह सकता, क्योंकि तब देह **'मैं'** को छोड़ देती है। देह जब **'मैं'** छोड़ देती है तो हम निष्क्रिय होते हैं। तथाकथित जाग्रतावस्था में भी, कुछ अवस्थाओं में—जैसे एक छोटा बच्चा **'मैं'** साथ नहीं लगाता, वह नहीं कहता कि मैं माँ की गोद में लेटा हूँ, मैं दूध पी रहा हूँ। जब तक वह **'मैं'** नहीं लगाता, वह जीवन के लिए सक्रिय नहीं है। जब हम स्वयं को नाम-रूप के साथ पहचानते हैं तो **'मैं'** लगाते हैं। सोए हुए भले ही मैं नाम-रूप में होता हूँ, लेकिन मैं नहीं लगा सकता। इसलिए निष्क्रिय होता हूँ। हमारी 'व्यष्टि' और 'समष्टि' दोनों हमारे साथ नहीं होती, जब तक **'मैं'** साथ में नहीं लगती। लेकिन बाल्यावस्था, शैशवावस्था, सुषुप्तावस्था, मूर्च्छावस्था, मृतकावस्था, विस्मृतावस्था, स्वप्नावस्था—सभी नाम-रूप की देह की अवस्थाएँ हैं। देह की एक ही अवस्था ऐसी है जिसमें नाम-रूप की देह नहीं होती और वह है—**देह की भस्मावस्था।** जीते जी हमारी **'मैं'** Common है

और मृत्यु के बाद **'भस्मी'** Common है। **'मैं'** अदृश्य है, मेरी नाम-रूप की देह तथा समस्त जगत दृश्यमान है। **'मैं'** को देखा, सुना, सूंघा, चखा और छुआ नहीं जा सकता। दूसरी ओर मेरी **'भस्मी'** है, जिसे **'मैं'** ने नहीं देखना। मेरी **'भस्मी'** को **'मैं' ने नहीं देखना, इसलिए मेरी देह ने भी नहीं देखना।** देह तो तभी सक्रिय होती है, जब **'मैं'** साथ लगती है। यदि इस भस्मी को **'मैं'** देख लूँ, तो देह देख लेगी। **यदि देह उस भस्मी को देख लेगी, तो 'मैं' और भस्मी का समन्वय हो जाएगा। मैं भी हूँगा, भस्मी भी होगी और देह भी होगी।** लेकिन वह देह, दिव्य-देह हो जाएगी। क्योंकि उसमें स्वतः व्यष्टि-समष्टि का सामंजस्य हो जाएगा। वह देह ही जीवात्मा का साकार रूप, यथार्थ मानव-देह होगी और उसके द्वारा जिया गया जीवन ही यथार्थ मानव-जीवन होगा।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(15, 16 अगस्त, 2006)

अर्थार्थ

मानव-देह प्राप्त करके जीवात्मा का यदि ऊर्ध्वगमन नहीं हुआ, तो अधोगति अवश्य होगी। ऊर्ध्वगमन और अधःपतन दोनों गतियों का आधार **'अर्थ'** है। तीन सोपान ऊर्ध्वगमन में हैं—धर्म, काम व मोक्ष। उसके बाद अनन्त आनन्द है। शास्त्रकारों ने सायुज्य,सारूप्य, सामीप्य, सालोक्य और कैवल्य पाँच मोक्ष कहे हैं। अधःपतन में निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ तीन सोपान हैं और उसके बाद भी कोई सीमा नहीं है।

जब हम अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष के ऊर्ध्वगति के मार्ग में होते हैं, तो यह कोई निश्चित रूप से क्रमबद्ध सीढ़ियाँ नहीं हैं। जब हम अर्थ से धर्म में आएँगे तो **'अर्थ'** छूटेगा नहीं, धर्म से काम में आएँगे तो धर्म और अर्थ से छूटेंगे नहीं। इसी प्रकार मोक्ष में भी काम, धर्म और अर्थ का अंश रह जाएगा। यह नहीं कि धर्म के सोपान पर हमारे अपने कोई स्वार्थ नहीं होंगे और हम उनके लिए प्रार्थनाएँ नहीं करेंगे। **मानव-धर्म वैराग है। वैराग भी महाराग है, लेकिन तब राग ईश्वर या सद्‌गुरु से होता है। वैराग की मनःस्थिति में स्वार्थ मात्र अपने इष्ट से सान्निध्य का होता है।** हम अपने परिवार आदि के लिए इसलिए प्रार्थनाएँ करते हैं, कि वे हमारी ईश्वर-भक्ति में बाधा न बने। हम अपनी देह के कष्टों का निवारण भी प्रभु से चाहते हैं, क्योंकि देह हमारे साध्य की प्राप्ति का साधन है। ईश्वर-भक्ति प्राप्त करने के बाद वैराग्य की मनःस्थिति (धर्म) में भी अर्थ साथ रहता है। यहाँ स्वार्थ इतना ही होता है, कि निर्विघ्न ईश्वर-भजन होता रहे।

अधःपतन और ऊर्ध्वगमन के ये सोपान क्रमबद्ध भी नहीं हैं। अर्थ से सीधा अनर्थ हो सकता है अथवा अनर्थ से सीधे अकस्मात जीव ईश्वर की

ओर उन्मुख हो सकता है। क्योंकि यह सब कृपा-साध्य है। **ऊर्ध्वगमन हमेशा ईश्वर व सद्‌गुरु की कृपा से होता है और कृपा हमेशा अकारण होती है।** प्रभु हमेशा नीयत देखते हैं। ईश्वर किसी भी स्थिति से ऊपर उठा लेता है। जीव आध्यात्मिक दृष्टि से ऊपर उठकर नीचे नहीं आ सकता। यदि आ गया, तो इसका अर्थ है, कि वह उठा ही नहीं था। उसे अनुभूति नहीं हुई थी। जिसे एक बार अपनी देहातीत स्थिति की झलक मिल गई और एक निमिष मात्र के लिए भी आनन्द की स्थिति बन गई, वह सदा उस झलक के लिए लालायित रहता है। वह किसी सांसारिक व्यवहार और नाम-रूपात्मक सृष्टि के **'असद्'** से भ्रमित नहीं होता। यदि कोई उसे इसमें लिप्त करने का प्रयत्न करे, तो वह उसे सह नहीं सकता। इन्द्रिय सुखों की स्मृतियों से संसारी लोग व्याकुल हुए रहते हैं। **जिसने इन सुखों के स्रोत आनन्द की अनुभूति की हो, न वह किसी से भ्रमित होता है न किसी को भ्रमित करता है। न किसी को बाँधता है न किसी से बँधता है।** सद्‌गुरु यह देखता है, कि हम अपनी देह व मान्यताओं तथा धारणाओं को अपने से पृथक् देखते हुए ऊर्ध्वगमन के इच्छुक हैं, तो वह हमें किसी भी स्थिति से ऊपर उठा सकता है। इसके बाद उसकी कृपा से ऊर्ध्वगमन ही होता है।

मानव-देह पंच-महाभूतों के संगम से निर्मित है। पंच-महाभूतों से संगठित मानव-देह जब सक्रिय होती है तो **'मैं'** शब्द का प्रकाट्‌य होता है। **'मैं'** निराकार व अदृश्य जीवात्मा का शब्द रूप में प्रकाट्‌य है। सारे महाब्रह्माण्ड में **'मैं'** Common है। **'मैं'** का **अपना** कोई नाम-रूप नहीं है, लेकिन नाम-रूप में पंच-महाभूतों के संगम से निर्मित सक्रिय देह का होना **'मैं'** के प्रकाट्‌य के लिए आवश्यक है। **'मैं'** उस देह सहित समस्त सृष्टि का अदृश्य दृष्टा है। वह इस समस्त साकार सृष्टि को उस देह का अवलम्बन लेकर देखता, सुनता, चखता, स्पर्श करता और सूँघता है, लेकिन स्वयं निराकार है। पंच-महाभूतों का जब पंच-महाभूतों में विलय होता है तो **'भस्मी'** का प्रकाट्‌य होता है। **'मैं'** का उद्‌घोष सृष्टि के प्रकाट्‌य का प्रमाण है और मानव-देह की सक्रियता का द्योतक है। सुषुप्तावस्था, मृतकावस्था,

मूर्च्छावस्था, विस्मृतावस्था में पंच-महाभूतों की देह सक्रिय नहीं होती। **'मैं' पंच-महाभूतों के संगम की सक्रियता का प्रमाण है और 'भस्मी' इन पंच-महाभूतों के विलय की द्योतक है।**

'मैं' और **'भस्मी'** सबकी समान है, दोनों अदृश्य व निराकार हैं। **'मैं'** पंच-महाभूतों के समस्त साकार निर्माण की द्योतक है और **'भस्मी'** पंच-महाभूतों के विलय की द्योतक है। दोनों के प्रकाट्य के लिए पंच-महाभूतों की एक देह आवश्यक है। हमारे कुछ मनीषियों ने मानव-देह को तिरस्कृत किया है, परन्तु यह मानव-देह उतनी ही पूजनीय है, जितना इसका निर्माता, पालनकर्ता और संहारकर्ता पूजनीय है। यह देह **'असद्'** नहीं है, **सद्** है। लेकिन जब **'मैं'** और देह का मिलन हुआ (मैं देह हूँ) तथा भस्मी (वैराग) और देह का विछोह हुआ, तो **'मैं'** विशुद्ध जीवात्मा से जीव बन गया। देह ने **'मैं'** का अधिग्रहण करके अपनी भस्मी को भुला दिया, तो **'सद्'** से **'असद्'** हो गई। **'मैं', 'देह** और **'भस्मी'** तीनों की अपनी-अपनी जगह हैं। **'सद्'** के स्पर्श के लिए मध्य से देह हटा दीजिए। **झगड़ा देह को लेकर नहीं, बल्कि कि 'मैं देह हूँ' के जीव भाव में है। जैसे ही जीवात्मा ने कहा कि 'मैं' देह हूँ तो भस्मी लुप्त हो गई। जब देह भस्मी में परिणत हुई तो 'मैं' (जीवात्मा) लुप्त हो गया।** जीते जी भस्मी अदृश्य है और पंच-महाभूतों की देह के विलय और भस्मी के दृश्यमान होने पर **'मैं'** (जीवात्मा) अप्रकट हो जाता है।

'मैं' और **'भस्मी'** दोनों स्वयं में बहुत सशक्त हैं। **'मैं'** ईश्वर का इकलौता मानस-पुत्र है और भस्मी ईश्वर की अतिशक्ति **'वैराग'** की द्योतक है। **'मैं'** देह के साथ तद्रूप होता है, तो भस्मी नज़र नहीं आती और **'भस्मी'** देह के विलय के बाद प्रकट होती है। इसलिए **'मैं'** शब्द का प्रकाट्य नहीं होता। **'मैं'** भस्मी हूँ, कोई कह नहीं सकता। **'मैं'** पंच-महाभूतों की देह के संगम का द्योतक है। **'भस्मी'** पंच-महाभूतों की देह के विलय की प्रतीक है। जिसका निर्माण हुआ है, उसका विलय अवश्य होगा। देह के रहते हुए किसी भी प्रकार से **'मैं'** और **'भस्मी'** का मानसिक संगम हो जाए

यही मानव-जीवन का लक्ष्य है। हम मानव-देह धारी होकर आध्यात्मिक **'सद्'** के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं रख सकते। एक जीवात्मा है—**'मैं'**, विभिन्न अवस्थाओं में उसे नाम-रूप की देह दी जाती है और **'भस्मी'** अवश्य बनेगी। **'मैं' था, 'मैं' हूँ, 'मैं' रहूँगा। भस्मी थी, भस्मी है, भस्मी रहेगी।**

'मैं' पंच-महाभूतों की देह के सक्रिय होने पर प्रकट होता है और **'भस्मी'** उसके विलय होने पर प्रकट होती है। समस्त अवस्थाएँ देह की हैं। देह के होने पर हैं। **केवल 'भस्मी' ही देह की वह अवस्था है, जो अवस्था देह की नहीं है।** स्वयं में **'मैं'** जीवात्मा का शब्दरूप में प्रकाट्य है, जो किसी एक देह विशेष से बँधा नहीं है। **'मैं'** का प्रकटीकरण व्यष्टि देह से होता है लेकिन **'मैं'** समष्टि भी है। इसी प्रकार स्वयं में **'भस्मी'** किसी विशेष देह से सम्बद्ध नहीं है। **भस्मी का प्रकाट्य भी एक व्यष्टि देह से होता है।**

देह की अवस्थाएँ बदलती रहती हैं। सब अवस्थाओं के साथ **'मैं'** एक ही है। देह की प्रत्येक अवस्था नाम-रूप की देह से बँधी है। इसी प्रकार देह की हर अवस्था में **'भस्मी'** भी एक ही है। अतः **'मैं'** और **'भस्मी'** किसी विशेष नाम-रूप की देह तथा देह की किसी भी विशेष अवस्था से बँधी नहीं है। **'मैं'** के प्रकाट्य के लिए पंच-महाभूतों का सक्रिय संगम अपेक्षित है और **'भस्मी'** के प्रकाट्य के लिए पंच-महाभूतों की मृतक देह का विलय अपेक्षित है। देह सक्रिय होगी तो **'मैं'** प्रकट होगी और मृतक देह विलीन होगी, तो **'भस्मी'** प्रकट होगी।

मानव-देह का मात्र एक ही लक्ष्य है, कि **'मैं'** जो परम दृष्टा जीवात्मा है, उसका और **'भस्मी'** का देह द्वारा, देह के रहते हुए मानसिक समन्वय हो जाए। यही मानव-देह का यथार्थ कर्म और **'अर्थ'** है, कैसे? देह द्वारा जब **'मैं'** का प्रकाट्य होगा तब देह सक्रिय होगी। प्रत्येक देह की निश्चित, परिलक्षित व दर्शित अवस्था **'भस्मी'** है। अतः **'मैं'** देह के रूप में उस अवस्था के साथ स्वयं को नहीं पहचान सकती, कि **'मैं'** भस्मी हूँ। **'भस्मी'** देह की वह अवस्था है, जो अवस्था देह की नहीं है। देह की शेष सभी अवस्थाएँ देह की हैं। **'मैं' का जीव-सृष्टि में अधोगमन तब हुआ, जब 'मैं'**

देह को अपना स्वरूप मानकर देह की उन अवस्थाओं से तद्‌रूप हुआ, जो अवस्थाएँ देह की थीं। सभी अवस्थाएँ नाम-रूप की देह से बँधी हुई थीं। देह की वे अवस्थाएँ जिनमें देह **'मैं'** को छोड़ देती है, उन अवस्थाओं (सुषुप्तावस्था, मूर्च्छावस्था, विस्मृतावस्था, मृतकावस्था) में भी नाम-रूप की देह तो रहती है। इस प्रकार सभी अवस्थाएँ देह की हैं और सभी अवस्थाओं में नाम-रूप की देह होती ही है। **मात्र भस्मावस्था एक ऐसी अवस्था है, जिसमें देह पंच-महाभूतों में विलीन हो जाती है। तभी भस्मी प्रकट होती है।**

'मैं' और 'भस्मी' दोनों के प्राकट्‌य के लिए देह की आवश्यकता है। देह से दोनों जुड़ी हुई हैं। **देह हो तो 'मैं' प्रकट होगी और देह होकर पंच-महाभूतों में विलय हो तो भस्मी प्रकट होगी। 'मैं' के प्राकट्‌य के लिए देह चाहिए। लेकिन प्रकट होने के बाद इसे किसी देह विशेष की पहचान की आवश्यकता नहीं है। 'मैं' अमुक-अमुक** (व्यक्तिगत) है, **'मैं'** अमुक-अमुक (समष्टिगत) भी हूँ इसी प्रकार **'भस्मी'** अमुक-अमुक की भी हो सकती है। **दोनों देह से बँधी नहीं है, लेकिन दोनों के मात्र प्राकट्‌य के लिए देह चाहिए। मैं और भस्मी दोनों समष्टिगत हैं। प्रकट होने के बाद दोनों को देह विशेष की पहचान की आवश्यकता नहीं है।** प्रकट होने के बाद विशुद्ध **'मैं'** किसी देह विशेष की नहीं होती, सबकी एक ही होती है। भस्मी भी देह विशेष की नहीं होती, सबकी एक ही होती है।

अधोगति और ऊर्ध्वगति दोनों का आधार **'अर्थ'** है। **'अर्थ',** निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ तथा **'अर्थ',** धर्म, काम, मोक्ष सभी का आधार अर्थ है। वास्तव में हमें **'अर्थ'** का अर्थ यानि **'अर्थार्थ'** का ज्ञान होना परमावश्यक है। अपने मन-बुद्धि की अधिकतम क्षमताओं से हमें **'अर्थ'** मालूम चल सकता है, लेकिन **'अर्थार्थ'** मालूम नहीं चल सकता। **'अर्थ'** हमारे जीवन का साधारण रास्ता है और **'अर्थार्थ'** मार्ग से परे का मार्ग है। **इसे जानने के लिए हमें Out of the way होना पड़ेगा।** हमने जीव-सृष्टि में आ कर स्वयं को अपनी ही संकुचित सीमाओं, मर्यादाओं व मार्गों से बाँध लिया है। उसे हमने

शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य की स्व-निर्मित संज्ञाएँ भी दे दीं। **जबकि जीवात्मा का स्वरूप स्वयं में असीम है। उसके लिए अधोगति व ऊर्ध्वगति दोनों असीम हो जाती हैं।** हम स्वार्थी हैं, हमारे प्रत्येक कृत्य का हमारी दृष्टि में अपना **'अर्थ'** है। हमारे कहीं जाने या न जाने, किसी की प्रशंसा या मान-अपमान करने या लाभ-हानि सबके पीछे कोई न कोई अर्थ है। हमारे अपने स्वकल्पित अर्थ **में** केवल अधोगमन होगा। **हम निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ का अपने परिकल्पित 'अर्थ' की सापेक्षता में आंकलन करते हैं। इसी प्रकार ऊर्ध्वगमन में धर्म, काम व मोक्ष का आंकलन भी हम अर्थ की सापेक्षता में करेंगे।** धर्म वैराग है, हमें ज्ञान है कि पहले किसी को राग था, अब उसे वैराग हो गया है। ईश्वर की कामना यानि **'भक्ति'** के लिए वैराग चाहिए। इस प्रकार ऊर्ध्वगति व अधःपतन दोनों का आधार **'अर्थ'** है।

राग होगा, तो वैराग होगा, जैसेकि देह होगी तो **'मैं'** का प्रकाट्य होगा और देह होगी तो भस्मी होगी। हमारी अधोगतियाँ या ऊर्ध्वगतियाँ केवल अर्थ का अर्थ यानि अर्थार्थ जानने के लिए हैं। जो हम अपनी बुद्धि से जान नहीं सकते। बस हम केवल यह जान जाएँ, कि हम अर्थार्थ जान ही नहीं सकते। I must know that I do not know and I cannot know. मानव होने के नाते मेरा कर्म बस इतना ही है। **'मैं'** देह के रूप में अपने कृत्यों का अर्थ जानता हूँ, कि मैं अपने परिवार के लिए कर रहा हूँ, अपने समाज के लिए कर रहा हूँ अथवा देश के लिए कर रहा हूँ। इस अर्थ का अर्थ यह है, कि मैं न भी करूँ अथवा मैं न भी रहूँ, तो भी यह कार्य यदि ईश्वर-इच्छा में होगा, तो अवश्य होगा। इस अर्थार्थ की अनुभूति सद्गुरु-कृपा से होगी। **जो मैं कर रहा हूँ वह 'अर्थ' है और जो स्वतः हो रहा है, वह अर्थार्थ है। मेरे द्वारा ऐसा क्यों हो रहा है, मैं नहीं जानता और न ही जान सकता हूँ।** इस सोपान पर आकर समर्पण होने पर सद्गुरु के चरणों में श्रद्धा उत्पन्न होने लगती है। प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष रूप से जाने-अनजाने में बहुत कुछ मेरे द्वारा मेरे लिए हो रहा है और मेरे द्वारा, किसी के लिए हो रहा है। बहुत कुछ ऐसा भी है, जो किसी के द्वारा मेरे लिए हो रहा है। ऐसा क्यों और कैसे हो रहा है, यह

जानना मेरी बौद्धिक क्षमताओं से बाहर का विषय है।

अपने द्वारा होने वाले किसी कृत्य के लिए यदि मैं मान लेता हूँ, कि **मैं कर रहा हूँ,** तो वह **'अर्थ'** भी नहीं है। उसमें अधोगमन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। **जीवात्मा को इस जीव-सृष्टि से हटना होगा। 'मैं' और 'भस्मी' का समन्वय हुए बिना यह सम्भव नहीं है। यह समन्वय किसी के किए से नहीं हो सकता। यह मात्र और मात्र सद्‌गुरु-कृपा से हो सकता है।** बहुत ग्रन्थ पढ़ने, बहुत से लोगों के प्रवचन सुनने से जीव-सृष्टि में जीव और भी भटक जाता है। जितना **अर्थ से ऊर्ध्वगमन अथवा अधोगति का प्रयास हम स्वयं करेंगे, वह सब अधःपतन ही है।** क्योंकि मैं कर रहा हूँ, या मैं नहीं कर पा रहा हूँ, मैं पापी हूँ, मैं पुण्यी हूँ, दोनों भावों में अनर्थ ही अनर्थ है। **अर्थ का अर्थ मानव जीवन का वास्तविक यथार्थ है, जो होता है, किया नहीं जाता।** जो किया गया वह **'अर्थ'** और जो होता है, वह **'अर्थार्थ'**। यह क्यों और कैसे होता है, हम नहीं जान सकते।

'मैं' एक विशेष घड़ी, नक्षत्र में विशेष माता-पिता के अंश से, विशेष देश-काल व परिस्थिति में पैदा क्यों हुआ, **'मैं'** कब, कहाँ, कैसे मरूँगा? यह मैं नहीं जानता और न ही मैं जान सकता हूँ। **जन्म और मृत्यु के मध्य में भी सब कुछ होता है, लेकिन हम भ्रमवश इसी में अपने माने हुए 'अर्थ' की दृष्टि से तथाकथित गति करते हुए व्यस्त हैं। जो हमसे करवाया जा रहा है, उसके लिए हमें भ्रान्ति होती है, कि हम कर रहे हैं और हमारे करने से हमें तथाकथित प्राप्तियाँ हो रही हैं।** जबकि मैं बहुत अच्छी तरह से जानता हूँ, कि मरने के बाद भस्मी बनते ही मेरे लिए सब कुछ भस्मी हो जाएगा। जब यह **'सद्'** अनुभूति में आ जाएगा कि सब कुछ करवाया जा रहा है, ईश्वरीय प्रकृति में समस्त क्रियाएँ स्वतः हो रही हैं वही मानव-जीवन के **अर्थ** का **अर्थ** यानि **अर्थार्थ** है। इसे आत्मसात् करना ही मानव-देह पाकर हमारा लक्ष्य है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(7 व 9 अक्टूबर, 2006)

अर्थ

(भाग 1)

मानव-जीवन में जीने के दो रास्ते हैं। एक रास्ता ऊर्ध्वगति को जाता है, दूसरा अधःपतन की ओर जाता है। एक में अध्यात्मिक दृष्टि से उत्थान है, दूसरे में पतन है। उत्थान और पतन दोनों की कोई सीमा नहीं है। दोनों का एक संगम है—**अर्थ।** अर्थ से तात्पर्य **स्वार्थ** से है। अधःपतन में—अर्थ, निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ के विभिन्न सोपानों में जीव भटकता है। अर्थ से अधिकतर लोग गिरते हैं और अनर्थ में पहुँच जाते हैं। प्रभु-कृपा से कुछ ही लोग अर्थ से ऊर्ध्व उठकर अर्थ का अर्थ यानि **'अर्थार्थ'** समझकर **'सार्थ'** की ओर प्रेरित होते हैं और धर्म, काम, मोक्ष के सोपानों पर ऊर्ध्व गति करते हैं। जैसे हमने **निरर्थक** को **'निरर्थ'** संज्ञा दी है, उसी प्रकार **सार्थक** को **'सार्थ'** कहा है। सार्थ से ऊर्ध्वगमन प्रारम्भ होता है। अर्थ और धर्म के बीच की कड़ी **'सार्थ'** है। **'अर्थ'** को **'राग'** भी कहा जाता है। अर्थ और अनर्थ के मध्य की कड़ियाँ हैं—**निरर्थ और व्यर्थ।** अर्थ के सोपान पर मानव अपनी भौतिक इच्छाओं की पूर्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थनाएँ करता है। विभिन्न प्रकार के पूजा-प्रकरण, जप-तप, यज्ञ-हवन आदि केवल **'जीवन के लिए'** विभिन्न प्राप्तियों के लिए करता है। लेकिन अर्थ से गिरकर वह ईश्वर को भूल जाता है और स्वयं कर्मठ बना हुआ ईश्वर प्रदत्त समस्त शारीरिक, बौद्धिक व मानसिक शक्तियों को देह व जीवन के लिए सुख-साधन एकत्रित करने में झोंक देता है।

देह के साथ जब जीवात्मा का तादात्म्य हो जाता है, तो जीवात्मा जीव बनकर स्वार्थी हो जाता है और प्राप्य की प्राप्तियों के लिए दौड़ने लगता है। इस समय जीव अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं की पूर्ति के लिए ईश्वर का सहारा लेता है। जहाँ-जहाँ वह दैहिक रूप से सम्बद्ध है, उसके लिए कुछ भी प्राप्त करने के लिए जो तथाकथित पुरुषार्थ कर्म करता है, उसे **'अर्थ'** कहा गया है। इन तथाकथित भक्तिपरक प्रकरणों जप-तप, तीर्थ-यात्रा, यज्ञ-हवन आदि को ईश्वर की भक्ति नहीं कहा जाता, क्योंकि जीव की चाहत ईश्वर की होती ही नहीं है। जीव की विभिन्न इच्छाएँ पूरी होती हैं, उसे कई प्राप्तियाँ भी होती हैं। **इन प्राप्तियों में पाना और खोना दोनों रहते हैं। कभी-कभी किसी वस्तु से पीछा छुड़ाने के लिए प्रार्थना होती है, कभी कुछ पाने के लिए—ये दोनों ही उसके लिए प्राप्तियाँ हैं।** जब वह प्राप्ति हो जाती है तो उसे अस्थाई सुख व अल्पकालीन चैन मिलता है। उस वस्तु का कुछ भोग भी मिलता है। उसे क्षणिक व अस्थाई मानसिक विश्राम व राहत मिलती है, लेकिन सन्तुष्टि और आनन्द नहीं मिलता। एक इच्छा पूर्ण होने के बाद कई इच्छाएँ और खड़ी हो जाती हैं।

इच्छुक (जो इच्छा करता है), इच्छा, इच्छापूरक व इच्छाफल—प्रत्येक इच्छा के चार अंग होते हैं। जीव अर्थ में पहले दो अंगों पर अपना अधिकार जमा लेता है, कि **प्रभु मेरी अमुक इच्छा है, मैं अमुक-अमुक इच्छुक हूँ,** आप इच्छापूरक हैं, मेरी इच्छा पूरी करो। जो इच्छुक होगा, उसी की इच्छा होगी, तो हमने चार अंग क्यों माने? इच्छा, इच्छापूरक और इच्छाफल तीन अंग भी माने जा सकते थे। **हमारे मन में अनेक इच्छाएँ उठती हैं, लेकिन सबके इच्छुक हम नहीं बनते।** कई इच्छाएँ हम देश-काल, परिस्थिति, परिवार आदि की दृष्टि से विचार करते हुए स्वयं ही समाप्त कर देते हैं। कभी-कभी तो एक इच्छा ही दूसरी इच्छा की विरोधी बनकर स्वतः समाप्त हो जाती है। कोई-कोई इच्छा ऐसी होती है, जिसके इच्छुक बनकर हम प्रभु को इच्छापूरक मानते हुए प्रार्थनाएँ करते हैं। **वह इच्छा जिसका प्रकटीकरण हम चाहते हैं, जो हमारे लिए हमारी दृष्टि में वैध है, हम**

उसके इच्छुक बनते हैं। इसलिए हमने इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल चार अंग माने। यहाँ जो इच्छाफल प्राप्त होगा, उसका हमें सुख व भोग मिलेगा, क्योंकि प्रभु से सम्पर्क करते हुए कार्य किया है। लेकिन हमें सन्तुष्टि नहीं मिलेगी, क्योंकि हम स्वयं इच्छुक बनकर **कारण** बने और इच्छा अपनी मान ली। यहाँ जो वस्तुगत इच्छाफल होगा, उसका अस्थाई भोग मिल जाएगा। फिर कोई और इच्छा खड़ी हो जाएगी, इसलिए सन्तुष्टि नहीं मिलेगी।

हमारी देह में प्राण-शक्ति रूप में यदि वह ईश्वरीय शक्ति न हो (जैसेकि एक मृतक देह क्या इच्छा करेगी) तो हम कोई इच्छा नहीं कर सकते। अतः मूलतः वह ईश्वरीय शक्ति ही किसी भी इच्छा का कारण है। तो यह मानते हुए हम प्रभु से प्रार्थना करें ''प्रभु आप ही ने यह इच्छा पैदा की है, आप ही इच्छुक हैं। यदि इच्छुक आप हैं, तो इच्छा भी आपकी ही हुई और इच्छापूरक व इच्छाफल भी आप ही हैं।'' **इस स्थिति में इच्छाफल कोई प्राप्ति अथवा खोना नहीं होता, बल्कि उसके बाद की मानसिक संतुष्टि होती है।** अक्सर हम संसारी लोग जब ईश्वर से प्रार्थना भी करते हैं, तो इच्छुक स्वयं बन जाते हैं और इच्छा भी अपनी मान लेते हैं। यह देहाध्यास में स्वार्थवश होता है। **जब हम नाम-रूप की अवचेतना में होते हैं, तो प्रार्थी हम स्वयं बनते हैं।** हमारी अपनी प्रार्थनाएँ होती हैं और प्रार्थना को स्वीकार करने वाला ईश्वर को मान लेते हैं। प्रार्थनाएँ स्वीकृत होने पर और प्रार्थनाएँ पैदा हो जाती हैं।

अतृप्ति, असन्तुष्टि और **आसक्ति** तीनों का दामन चोली का साथ है। मैंने एक गिलास, लोटे, ड्रम, कुएँ व नदिया का कई बार उदाहरण दिया है। जैसे एक आधा भरा गिलास है तो उसे अतृप्ति है, कि मैं पूरा भर जाऊँ। प्रभु-कृपा से भर गया तो कुछ क्षण तृप्त हुआ। लेकिन लोटे को देखकर वह असन्तुष्ट हो जाएगा, कि काश मैं लोटा होता। किसी भी अपने से बड़ी वस्तु के कारण जो असन्तुष्टि रह जाएगी, वह अन्त काल में आसक्ति बन जाएगी। उदाहरणतः लोटा बनकर वह क्षणिक तृप्त हुआ, लेकिन उसे ड्रम

देखकर असन्तुष्टि हो गई। काश ! मैं ड्रम बन जाता और इसी बीच उसकी मृत्यु हो गई, तो वह असन्तुष्ट रहते हुए ड्रम बनने की आसक्ति लेकर मरता है। इसी प्रकार ड्रम बन गया तो कुएँ की आसक्ति रह गई और कुआँ भी बन गया, तो नदिया बनने की असन्तुष्टि से वह आसक्त ही देह त्यागता है। नदिया भी भागती है और अन्ततः सागर में अपना नाम-रूप खोते हुए विलीन हो जाती है। यहाँ सशर्त विलय होता है, कि उसे अपना नाम-रूप खोना पड़ता है। **यदि गिलास जितना भरा था, उतने में ही तृप्त होकर सीधा समुद्र में कूद जाता, तो सागर में पड़े गिलास के अधिकार सागर जितने हो जाते।** रहता वह गिलास ही, लेकिन उसे सागर के किनारे पड़ा हुआ ड्रम भी गरीब नज़र आता। वह किसी को भी कितना भी जल दे सकता।

आसक्ति हमेशा अशक्त को होती है। विरक्ति अर्थात् वीरता। अतः जहाँ विरक्ति होगी, वहाँ आसक्ति नहीं होगी। आसक्ति का समाधान विरक्ति ही है। इसी प्रकार दिन में कोई कार्य पूरा करना हो और रात को सोते समय वह कार्य पूरा न हो अथवा वह कार्य पूरा हो जाए, तो उसके बाद कोई अन्य कार्य खड़ा हो जाए, जिसके लिए अगले दिन पूरा करने का जुगाड़ करते-करते हम सो जाते हैं। यदि ऐसा है, तो हम आसक्त सोए हैं, हमें कभी चैन की निद्रा नहीं आ सकती। जीव इसी प्रकार अन्तकाल में आसक्ति को लेकर मरता है। ऐसा तब होता है, जब इच्छा के चार अंगों **में से प्रथम दो अंगों पर जीव देहाध्यासवश अधिपत्य कर लेता है, कि मैं इच्छुक हूँ और मेरी इच्छा है।** इच्छापूरक प्रभु हैं जो मुझे इसका फल देंगे। यहाँ उसका इच्छाफल अभीष्ट वस्तु, पदार्थ अथवा साधन की प्राप्ति अथवा उसका खोना होता है। इच्छा पैदा होने तथा उसके पूर्ण होने के पहले की मनःस्थिति हमारी अपनी होती है, लेकिन पूर्ण होने के बाद की मनःस्थिति पूर्णतः ईश्वराधीन होती है। उस पर हमारा कोई अधिकार नहीं होता। **इच्छा के पूरी होने से पहले की मनःस्थिति हमारी अपनी इसलिए होती है, क्योंकि इच्छुक हम स्वयं थे और इच्छा भी हमारी अपनी ही थी।** इच्छापूरक हमने प्रभु को माना, इसलिए इच्छा पूरी होने के बाद की

मनःस्थिति हमारी नहीं होती, उसके अधिष्ठाता प्रभु स्वयं होते हैं। हमारे भीतर की दिव्यता, इच्छा पूरी होने के बाद की मनःस्थिति निर्धारित करती है। उस दिव्यता में हमारे संस्कार, नैतिकता आदि आ जाते हैं। **हम इच्छुक बनने से पहले इच्छापूर्ति के बाद की मनःस्थिति पर विचार भी नहीं कर सकते, क्योंकि स्वयं अपनी इच्छा मानने और इच्छुक बनने के कारण अहंवश हमारा ईश्वरीय मानस आच्छादित हो जाता है। हमारी बुद्धि का विवेक लुप्त हो जाता है।**

मानव-जीवन के दोराहे का संगम **'अर्थ'** है, जो **'स्वार्थ'** है। इसमें सुख-साधनों, पदार्थों और किसी भी दैहिक, भौतिक प्राप्ति के लिए स्पर्धा रहती है। इस अर्थपूर्ण स्वार्थी जीवन में देवी-देवताओं से मनौतियाँ, विभिन्न पूजा-प्रकरण, जप-तप, तीर्थ-यात्रा, यज्ञ-हवन आदि भी होते रहते हैं। अर्थ पूर्ति में हमें बहुत सी वस्तुएँ मिलती हैं, बहुतों से हमारी इच्छा के अनुसार पिण्ड छूटता रहता है, लेकिन समस्त जीवन अतृप्ति व असंतुष्टि में ही चलता है। इसका अन्त आसक्ति में होता है। हम जीवन में वस्तुओं को महत्त्व देते हैं। हमारी समस्त एकाग्रता विभिन्न पदार्थों की प्राप्ति अथवा उनसे मुक्त होने के लिए होती है। **जबकि अतृप्ति, असन्तुष्टि और आसक्ति तीनों हमारी मानसिक स्थितियाँ हैं**, जिनका कारण विभिन्न वस्तुओं की प्राप्ति अथवा उनसे पीछा छुड़ाने से हम मान लेते हैं। इसका अर्थ यह है, कि मेरे लिए जीवन में मेरी मानसिक स्थिति अधिक महत्त्वपूर्ण है, न कि विशिष्ट वस्तु की प्राप्ति अथवा खोना। हमारे समस्त तनावों, भय, विक्षेप, त्रास, ईर्ष्या, द्वेष, स्पर्धा आदि का कारण हमारी मनःस्थिति है। कभी-कभी किसी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के बाद हम तनावित हो जाते हैं और किसी वस्तु के खोने से हमें सुख मिलता है। अतः हमारे लिए हमारी मनःस्थिति किसी भी वस्तु से अधिक महत्त्वपूर्ण है। यदि अपनी चाहत पूरी होने पर भी मन में खुशी नहीं हुई तो वस्तु व्यर्थ हो जाती है। महापुरुषों के लिए उनके मन का आनन्द ही उनका लाभ होता है और अधोगति की ओर जाते अधम जीवों के लिए पदार्थ, वस्तुएँ व

सुख-साधन ही महत्त्वपूर्ण होते हैं। इसलिए वे अतृप्त और असंतुष्ट रहते हुए अन्ततः किसी न किसी वस्तु की आसक्ति लेकर ही मर जाते हैं।

महापुरुषों की मनःस्थिति की कसौटी वस्तुएँ नहीं होतीं। **कोई भी पद, प्रतिष्ठा, धन, सम्बन्ध, व्यक्ति, शक्ति हम एक विशिष्ट मनःस्थिति के लिए चाहते हैं। अतृप्ति, असंतुष्टि और आसक्ति भी मनःस्थिति ही है। अतः हमारी प्रार्थनाएँ यद्यपि प्रत्यक्षतः वस्तुओं के लिए होती हैं, लेकिन अज्ञात रूप से हम उस प्राप्ति के बाद की मनःस्थिति चाहते हैं।** हमें भ्रम रहता है कि वस्तु की प्राप्ति के बाद मनःस्थिति आनन्दमय हो जाएगी। जबकि वस्तु की प्राप्ति के बाद की मनःस्थिति पूर्णतः ईश्वर के हाथ में है। **जितना कोई व्यक्ति आसक्त होगा, उतना ही अशक्त होगा।** ईर्ष्या, द्वेष, प्रतिस्पर्धा से ग्रसित व्यक्ति किसी महापुरुष के उचित हितपूर्ण परामर्श पर भी ध्यान नहीं देता। उसका ईश्वरीय मन पूर्णतः जीव भाव से आच्छादित हो जाता है। वह इच्छा व इच्छुक स्वयं बनकर ईश्वर से विभिन्न चाहतों की पूर्ति के लिए प्रार्थनाएँ करता है और कभी-कभी चाहत पूरी होने के बाद पछताता है, कि यह क्या हो गया? जब इच्छा, इच्छुक हम स्वयं बनते हैं तो हमारी विवेक बुद्धि तो ढक जाती है और हम पहले देख नहीं पाते, कि चाहत पूरी होने के बाद हमारी मानसिक स्थिति क्या होगी? अपराध भाव, तनाव, विक्षेप, भय आदि इसी कारण होते हैं, कि हम किसी भी प्रकार से अपनी इच्छाओं की पूर्ति करना चाहते हैं। **व्रत, अनुष्ठान, तथाकथित गुरुओं द्वारा कराए गए पूजा-प्रकरण, विभिन्न तन्त्र-मन्त्र, पुस्तकें पढ़कर मनौतियाँ पूरी करने के लिए की गई साधनाएँ जीव को अधोगति की ओर ले जाती हैं। व्यक्ति अर्थ से निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ की ओर पतित होता ही जाता है। इस अनर्थ की कोई सीमा नहीं होती। यहाँ हर अभीष्ट की प्राप्ति व्यक्ति तथा समाज दोनों के लिए अनिष्टकारी ही हो जाती है।** अर्थ से अधिकतर लोग पतित ही होते हैं।

जब तक कोई वस्तु, पदार्थ या व्यक्ति हमारे मन को प्रभावित नहीं करता, तब तक हम उसकी प्राप्ति अथवा खोने के लिए ईश्वर से प्रार्थना

नहीं करते। अनेक इच्छाएँ हमारे मन में उत्पन्न होती रहती हैं। सभी इच्छाओं के इच्छुक बनकर हम प्रभु से उनकी पूर्ति के लिए प्रार्थना नहीं करते। वस्तुतः हम वस्तुओं, प्राणियों या पदार्थों के लिए कभी प्रार्थना नहीं करते। भ्रमवश हम मान लेते हैं, कि उनकी प्राप्ति के बाद हमारी मनःस्थिति आनन्दमय हो जाएगी। हमारी समस्त प्रार्थनाओं के मूल में मनःस्थिति ही होती है। प्रत्यक्ष रूप से हम समझते हैं, कि वस्तुएँ मिल जाने से मनःस्थिति अच्छी हो जाएगी। इसलिए हम स्वयं इच्छुक बनकर अपनी इच्छा मानते हुए वस्तुओं के लिए प्रार्थनाएँ करते हैं। जबकि अज्ञात रूप से आनन्दमय मनःस्थिति ही चाहते हैं। **हमारा मन स्वयं ही मूलतः ईश्वरीय आनन्द का स्रोत है।** हमने भ्रमवश वस्तुओं को महत्त्व दे दिया। वस्तुओं की प्राप्ति के बाद अस्थाई रूप से और बहुत अथवा थोड़े समय के लिए हमारी मनःस्थिति ठीक हो जाती है, तो प्रार्थनाएँ बन्द हो जाती हैं। हमारा मन फिर से उद्वेलित होता है, तो पुनः किसी अन्य वस्तु की चाह होने लगती है। क्योंकि हमें भ्रम होता है, कि वस्तु प्राप्त होने पर मनःस्थिति अच्छी हो जाएगी।

अतृप्ति, असन्तुष्टि और आसक्ति वस्तुतः हमारी मनःस्थिति ही है, जो समय-समय पर बदलती रहती है। अन्ततः व्यक्ति किसी न किसी वस्तु की आसक्ति में ही देह त्यागता है। इसी प्रकार सन्तुष्टि भी मनःस्थिति है। वस्तु के प्राप्त होने के बाद थोड़े समय रहने वाली सन्तुष्टि को, हम सन्तुष्टि मान लेते हैं। वस्तुतः वह सन्तुष्टि **सी** होती है। जो गिलास आधा भरा था, अतृप्त था, पूरा भर जाने पर तृप्त हुआ और थोड़ी देर के लिए शान्त हो जाता है। लेकिन अपने से बड़ा लोटा देखकर उसे पुनः असन्तुष्टि हो जाती है। **हम सब वस्तुतः अपनी मनःस्थिति के साथ ही संघर्षरत रहते हैं। वस्तुओं, पदार्थों का तो बहाना है।** स्वार्थपूर्ण जीवन का प्रारम्भ स्वार्थ में और अन्त आसक्ति में होता है। मध्य में अतृप्ति और असन्तुष्टि रहते हैं। इसमें वस्तुओं का कोई महत्त्व नहीं है। यही हमारा बहुत बड़ा भ्रम है। **यह मूल तथ्य हम विवेक बुद्धि से जान जाएँ और मन से मान जाएँ तो हमारा जीवन अर्थ से**

ऊर्ध्वगति करते हुए स्वार्थ से सार्थ होते हुए धर्म, काम, मोक्ष की ओर उन्मुख हो जाएगा।

बचपन में हम काँच की गोलियाँ एकत्र करते थे, ज्यादा होने पर बहुत प्रसन्न होते थे। वही आनन्द बड़े होकर धन आने पर मिलता है। बचपन में पेच लड़ाकर किसी की पतंग गिरा देते थे या लूट लेते थे। वही आनन्द किसी योद्धा को कोई किला जीतने पर मिलता है। दोनों खुशियाँ एक सी हैं। यदि हम मनःस्थिति पर एकाग्र करेंगे, तो पाएँगे कि वस्तुओं का कोई भी महत्त्व नहीं होता। **हमारी तथाकथित शिक्षा, डिग्रियाँ, पद, धन, सम्पदा, परिवार और सब कुछ जो भी स्वार्थवश हमारे मन को उद्वेलित करता है, उसका सीधा सम्बन्ध मानसिक स्थितियों से है। उत्तम मनःस्थिति आनन्द है, जो अभावमय है। स्पष्ट है कि हमारी दौड़ और प्रार्थनाएँ कितनी निरर्थक हैं।**

चाहत हमेशा मन की होती है—राग, द्वेष, प्रेम, मोह, लोभ, क्रोध, वितृष्णा ये सब भी मन के भाव हैं। हमारा मन मूलतः ईश्वरीय आनन्द का स्रोत है और आनन्द अभावमय है। हमारे मन की विक्षेपमय स्थितियाँ—अतृप्ति, असन्तुष्टि आदि वस्तुओं के कारण होती हैं। आनन्द में वस्तुओं की कोई भूमिका ही नहीं है। **अभावमय आनन्द के अतिरिक्त जो भी मानसिक स्थितियाँ होती हैं वह वस्तुजनित और भावमय होती है।** भावों के समूह को स्वभाव कहते हैं। **'आनन्द'** अभावमय है—मन का मूल स्वरूप ही अभावमय आनन्द है। **जब हम जागृति में अभावमय मानसिक स्थिति में होंगे, तो वहाँ आनन्द ही आनन्द होगा।** सुषुप्ति में तो हम अभावमय होते ही हैं। वहाँ धर्म, कर्म, सम्बन्ध, लिंग, रोग, दोष, प्रेम, क्रोध, घृणा कुछ नहीं होता, लेकिन सुषुप्ति ईश्वर-विमुखता के कारण जड़ स्थिति है। सुषुप्ति अभावमय स्थिति है, लेकिन आनन्द की स्थिति नहीं है। **सब कुछ का अभाव होने के कारण हमें विश्राम मिलता है, लेकिन आनन्द नहीं मिलता।** यदि उस अभावमय स्थिति में हम जागृति में ईश्वर-सम्मुख हों, वही आनन्दमय मनःस्थिति है। सुषुप्ति में वस्तुओं का अभाव अस्थाई विश्राम ही दे पाता है। यह थोपा हुआ

अभाव होता है, क्योंकि जागृति में आते ही वस्तुओं की लालसा पुनः मन को उद्वेलित कर देती है। **जाग्रतावस्था में इष्ट के ध्यान अथवा यज्ञ-हवन तथा किसी भी प्रकार से जब हम अभावमय स्थिति उत्पन्न करते हैं तब हमारे मानस का मूल व सहज आनन्दमय स्वरूप जाग्रत हो जाता है। सुषुप्ति और समाधि में यही बहुत बड़ा अन्तर है।** वह अभावमय स्थिति हमारी जागृति में होनी आवश्यक है। यदि अपनी मनःस्थिति का सम्बन्ध हम वस्तुओं से मान रहे हैं, तो करोड़ जन्मों तक भी हम आनन्द को छू भी नहीं सकते। जब यह तथ्य जीव को आत्मसात् हो जाता है, तो जीव प्रभु-कृपा से अर्थ से धर्म, काम और मोक्ष के सोपानों पर ऊर्ध्व गमन ही करता है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(31 अक्टूबर से 3 नवम्बर 2006)

अर्थ

(भाग 2)

'मैं' जीवात्मा का शब्द रूप में प्राकट्य है, जो अवचेतन देह के सान्निध्य में ही होता है। अर्थात् **'मैं'** कहते ही जीवात्मा अवचेतन देह के आश्रय में हो जाता है। यानि वह अवचेतन देह के साथ तद्रूप हो जाता है। **जब तक जीवात्मा अवचेतन देह के साथ तद्रूप नहीं होगा, इसका प्राकट्य नहीं होगा। 'मैं' की ध्वनि जीवात्मा का प्राकट्य है। 'मैं'** जब विशुद्ध चेतना (Awareness) में था तो देखने, सुनने, सूँघने, चखने और छूने में नहीं आता था, वह अदृश्य था। जीवात्मा अपनी चेतनता से जब अवचेतना में उतर आता है, तभी **'मैं'** शब्द का प्राकट्य होता है। तभी समस्त साकार जगत का अधिग्रहण व प्रस्तुतिकरण होता है। जगत को हम पाँच ज्ञानेन्द्रियों में से एक अथवा अनेक के द्वारा अधिगृहीत करते हैं। **'मैं' साकार देह के साथ तद्रूप होकर, प्रकट होता है। देह दिखाई देती है, लेकिन 'मैं' अदृश्य है। 'मैं'** को देखा, सुना, सूँघा, चखा और छुआ नहीं जा सकता। **'मैं' चेतना है, जीवात्मा है, जिसे प्रकट होने के लिए अवचेतन व सक्रिय देह का अवलम्बन चाहिए। जब इसका प्राकट्य होता है, तो यह चेतन जीवात्मा न रह कर अवचेतन जीव बन जाता है।** इसकी चेतनता लुप्त नहीं होती, जीव भाव से इसका चैतन्य स्वरूप आच्छादित हो जाता है। इसलिए जीवात्मा स्वयं को एक नाम-रूप की देह में तुच्छ सा जीव मान लेता है। अतः जीवात्मा को **'मैं'** शब्द रूप में प्राकट्य के लिए इतनी बड़ी कीमत देनी पड़ती है।

पंच-महाभूतों के संगम से निर्मित एक देह जीवात्मा को मिली। जो

निर्मित है, वह पालित है और जो पालित है, वह संहारित भी है। पंच-महाभूतों की देह पंच-महाभूतों में विलीन हो जाती है और भस्मी का प्राकट्य होता है। **'भस्मी' दृश्यमान होती है और 'मैं' श्रवण में आती है। 'मैं'** और **'भस्मी'** दोनों देह के धर्म हैं। पंच-महाभूतों के इस संगम और विलय का कोई भी वैज्ञानिक आज तक विश्लेषण नहीं कर सका। शिव-शक्ति क्रीड़ा पंच-प्राणों की महाशक्ति तथा अति शक्ति वैराग के बीच हुई। इस क्रीड़ा में पंच-प्राणों की महाशक्ति (प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान) क्रमशः पंच-महाभूतों (अग्नि, वायु, पृथ्वी, जल व आकाश) के रूप में प्रकट होती है और अति शक्ति वैराग इन पंच-महाभूतों में अदृश्य भस्मी के रूप में कण-कण में समाहित हो जाता है। पंच-महाभूतों का एक मानव-देह रूप में संगम नहीं होगा तो **'मैं'** प्रकट नहीं होगी। संगमित देह का पंच-महाभूतों में विलय हुए बिना भस्मी प्रकट नहीं होगी। भस्मी दृश्यमान होती है, लेकिन हम अपनी उस भस्मी को देख नहीं सकते। **'मैं'** श्रवण में आती है, उसको भी हम देख नहीं सकते। **जिस देह ने 'मैं' को प्रकट किया उसने 'मैं' (जीवात्मा) को नहीं देखा और जिस देह से भस्मी प्रकट हुई उस (देह) ने भस्मी को नहीं देखा।** जो **'मैं'** केवल सुनाई देती है, उसके लिए पंच-महाभूतों के संगम से प्रकट अवचेतन देह चाहिए और भस्मी के दृश्यमान होने के लिए उसका पंच-महाभूतों में विलय अपेक्षित है।

'अर्थ' मानव-जीवन के दोराहे का संगम है। अर्थ से तात्पर्य स्वार्थ है। जब जीवात्मा अपने नाम-रूप की एक देह को अपना स्वरूप मानते हुए अपने और अपने तुच्छ से संकीर्ण जगत तक सीमित रहता है तो वह चेतन जीवात्मा से तुच्छ सा अवचेतन जीव बन जाता है। उसके लिए जीवन का **'अर्थ'** मात्र देह व देह पर आधारित जगत के लिए किसी भी प्रकार से सुख-साधन प्राप्त करना होता है। इस प्रक्रिया में वह **'अर्थ'** से निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ के अधःपतन मार्ग पर **स्वेच्छा से** पतित होता चला जाता है। नीचे गिरने में यदि हम किसी के द्वारा धकेले जाएँ तो हम स्वयं को बचाने का प्रयास करते हैं। लेकिन जब जीव स्वेच्छा से अधोगति की ओर उन्मुख होता

है, तो वह स्वतः ही लुढ़कता चला जाता है, उसे किसी आश्रय की आवश्यकता भी नहीं होती। **'अर्थ'** तक तो वह दैवीय हस्तक्षेप द्वारा ईश्वर से प्रार्थना, जप-तप, यज्ञ-हवन आदि पुरुषार्थपरक कर्मों द्वारा जीवन के लिए सुख-साधन अर्जित करने की भाग-दौड़ करता है, लेकिन शीघ्र ही वह निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ में गिरता चला जाता है; कि ईश्वर का नाम लेने में समय क्यों बरबाद करना है? इतने समय में और धन-सम्पत्ति कमाई जा सकती है। **वह वस्तुओं, व्यक्तियों अथवा वस्तुओं और व्यक्तियों से सम्बन्धित विधाओं के लिए अन्धाधुन्ध दौड़ने लगता है।** अपने नाम, यश, रुतबे तथा कीर्ति के लिए यथा सम्भव जुगाड़ में लग जाता है। अपने तथाकथित दुश्मनों से प्रतिशोध परक भावनाओं ईर्ष्या, द्वेष, कुटिलता, वैर, स्पर्धा, वैमनस्य, जलन आदि से घिरा हुआ सुख-शान्ति व चैन गँवा बैठता है। **'अनर्थ'** के बाद अधोगति की कोई सीमा नहीं है।

जब स्वेच्छा से जीव ऊर्ध्वगति की ओर अग्रसर होता है, तो उसके लिए उसे बहुत संघर्ष करना पड़ता है। शास्त्र ने ऊर्ध्वगमन में अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चार सोपान बताए हैं। मोक्ष के बाद का मार्ग अनन्त और असीम है। **'अर्थ'** से जीव एकदम **'धर्म'** के सोपान पर नहीं आता। अर्थ और धर्म के मध्य **'सार्थ'** की कड़ी है। जिसका सहारा लेकर प्रभु-कृपा से जीव धर्म के सोपान पर पहुँचता है। हमारी समस्त चाहतें व इच्छाएँ **जीवन-काल में भविष्य** के लिए हैं। इसीलिए हम अधोगति की ओर पतित होने लगते हैं। मैंने अपने प्रवचन **'जीवन में भविष्य और जीवन का भविष्य'** में इस विषय का सविस्तार वर्णन किया था, कि जीवन **में** सभी भविष्य अनिश्चित हैं क्योंकि हमारा सबका जीवन-काल ही अनिश्चित है। लेकिन हम सबके जीवन **का** भविष्य (भस्मी) सुनिश्चित, परिलक्षित व दर्शित है। दोनों भविष्यों का सम्बन्ध जीवन से है। जहाँ जीवन **के** भविष्य की चाहत प्रभु-कृपा से हो जाएगी, वहाँ से ऊर्ध्वगमन प्रारम्भ हो जाएगा। वहाँ से हम अर्थ से अर्थ का अर्थ (अर्थार्थ) यानि **'सार्थ'** की कड़ी को पकड़ कर कभी न कभी प्रभु-कृपा से धर्म के सोपान पर पहुँच जाएँगे।

अर्थ के चार स्तम्भ हैं—1. अशक्ति की तीन विधाएँ—अतृप्ति, असंतुष्टि एवं आसक्ति, 2. इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल, 3. सृष्टि, स्वतः निर्मित, पालित व संहारित, 4. भौतिक व दैहिक शक्ति, बौद्धिक शक्ति और मानसिक व अध्यात्मिक शक्ति।

आज हम **'अर्थ'** रूपी भवन के अशक्ति नामक स्तम्भ का सविस्तार वर्णन करेंगे। प्रवचन के प्रारम्भ में मैंने बताया था, कि **'मैं'** दृश्यमान नहीं है। मात्र श्रवण में आता है, जिसके लिए उसे पंच-महाभूतों के संगम से निर्मित अवचेतन देह का सान्निध्य अपेक्षित है। **'भस्मी'** दृश्यमान होती है, लेकिन उसके प्रकाट्य के लिए पंच-महाभूतों की देह का विलय अपेक्षित है। **देह 'मैं' और 'भस्मी' दोनों को देख नहीं सकती, लेकिन दोनों का प्रकाट्य देह के बिना नहीं हो सकता।** हमने इच्छा के चार अंग माने है—इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक व इच्छाफल। जब जीवात्मा नाम-रूप देह को अपना स्वरूप मान लेता है तो इन चारों अंगों में से प्रथम दो पर अपना अधिपत्य कर लेता है। देह के रूप में मेरी इच्छा है और मैं ही (देह रूप में) इच्छुक हूँ। **यहाँ इच्छा जीवन-काल में देह से सम्बन्धित किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा इन्हीं से सम्बन्धित विभिन्न विधाओं की ही होगी। क्योंकि जीवात्मा की चेतनता देह की अवचेतना से पूर्णतः आच्छादित हो जाती है।** इच्छा के प्रथम दो अंगों पर अधिपत्य करके जीव बना जीवात्मा **'इच्छापूरक'** अपनी चेतनता अथवा ईश्वर को मानता है, कि हे प्रभु ! मेरी अमुक-अमुक इच्छा पूरी करो। अब प्रभु ने इच्छा पूरी कर दी, यहाँ देह के रूप में मेरी सोच, परिस्थितियों अथवा आवश्यकताओं से उत्पन्न हुई इच्छा किसी वस्तु, पदार्थ, व्यक्ति अथवा इन्हीं से सम्बन्धित किसी विधा के रूप में मिल गई। यही मेरा (जीव) अभीष्ट था। यहाँ प्राप्ति व अभीष्ट के भी दो रूप होते हैं—हम किसी व्यक्ति अथवा वस्तु में से किसी एक अथवा दोनों से सम्बन्धित किसी विधा/विधाओं (प्रौपर्टी, स्थान, व्यक्ति, धन-सम्पदा) की उपलब्धि चाहते हैं अथवा इनसे अपना पीछा छुड़ाना चाहते हैं। इस प्रकार यहाँ **पाना** और **खोना** दोनों ही उपलब्धि हैं। इस प्रकार हुई उपलब्धि का हम कुछ भोग

कर पाते हैं, लेकिन आनन्द से भोग नहीं कर पाते। उसमें हमेशा असंतुष्टि बनी रहती है, इसलिए आनन्द नहीं आता। इन इच्छाओं का कभी अन्त नहीं होता, क्योंकि एक इच्छापूर्ति अन्य अनेक इच्छाओं को जन्म देती है।

इस प्रकार यहाँ इच्छापूर्ति के बाद वह अभीष्ट ही अनिष्ट बनकर अतृप्ति व असंतुष्टि में ले जाता है। जैसे—एक गिलास आधा या पौना भरा हुआ है, उसकी इच्छा हुई कि मैं पूरा भर जाऊँ। तो वह अतृप्त है, वह प्रभु-कृपा से भर गया, उसकी इच्छा की पूर्ति हो गई। उसे अभीष्ट मिल गया, लेकिन अतृप्ति की वृत्ति ही असंतुष्टि में रूपान्तरित हो गई। **मानो अतृप्ति की ही प्रमोशन हो गई।** गिलास जब आधा भरा होने के कारण अतृप्त था, तो पूरा भरने की चाह करते समय उसे नहीं मालूम था, कि उसकी यह अतृप्ति ही असंतुष्टि में रूपान्तरित हो जाएगी। इसका स्पष्ट अर्थ है, कि गिलास के भरने से उसकी इच्छा तथाकथित पूरी हुई। गिलास ने अपने भरने का थोड़ा बहुत सुख लिया, लेकिन आनन्द इसलिए नहीं आया, क्योंकि वही अतृप्ति की वृत्ति, असन्तुष्टि में रूपान्तरित हो गई। फिर वह लोटा बना, कुछ देर उसका भी सुख लिया, लेकिन जल्दी ही बाल्टी, ड्रम, कुआँ, नदिया बनने की दौड़ उसे निरन्तर भगाती रही। उसकी असन्तुष्टि बनी ही रही। **आधे भरे गिलास से शुरू हुआ उसका आयतन बढ़ता रहा, साथ-साथ असन्तुष्टि भी बढ़ती रही।** अतृप्त को यह ज्ञान नहीं था, कि मैं असन्तुष्ट भी हूँ। **उस अज्ञात असन्तुष्टि को कृत्रिम रूप से ढकने का असफल प्रयास या प्रक्रिया ही Show off या बाहरी आडम्बर होती है।** स्वयं को ढकते-ढकते ही एक दिन जीव कफन से ढका जाता है। कुआँ बनकर वह गिलास नदिया बनने की चाह करने लगा। इसी बीच उसका जीवन-काल समाप्त हो गया, तो वह नदिया बनने की आसक्ति लेकर मर गया। **जिस प्रकार अतृप्ति के असंतुष्टि में रूपान्तरित होने का उसे ज्ञान नहीं था, उसी प्रकार असन्तुष्टि का आसक्ति में रूपान्तरित होना भी उसके अनजाने में हुआ। जब अन्त समय आता है, अन्तिम श्वास लेते समय स्वतः भाव से असन्तुष्टि ही आसक्ति में बदल जाती है।** उसने

स्वयं को **असन्तुष्ट** देखा लेकिन **आसक्त** नहीं देखा। इसी को अकाल-मृत्यु कहते हैं। अतृप्ति के साथ असन्तुष्टि और असन्तुष्टि के साथ आसक्ति– तीनों साथ-साथ चलती हैं। ये तीनों **अशक्ति** की ही तीन विधाएँ हैं। शक्तियाँ मिलती हैं। डिग्रियाँ, धन-सम्पदा, रुतबा, नाम-यश बढ़ता रहता है, लेकिन सन्तुष्टि कभी नहीं मिलती और **इस प्रकार शक्तियाँ अर्जित करते हुए भी अशक्ति बढ़ती रहती है। शक्तियाँ आने के बाद भी जीव अशक्त ही रहता है। अतः शक्तियों को सम्भालने की शक्ति खो जाती है।** अन्तकाल में असन्तुष्टि ही आसक्ति बन जाती है।

अतृप्ति और असन्तुष्टि हम जीवन-काल में देख सकते हैं, लेकिन **आसक्ति** नहीं देख सकते। अतृप्ति, आसक्ति और असन्तुष्टि वस्तुतः अशक्ति का ही प्रारूप है। यही अधोगति है। यह हमारे सबके जीवन का आम रुटीन है, जिसमें हम जन्मों-जन्मान्तरों से तथाकथित जीते हुए भटक रहे हैं। जीवात्मा स्वयं में सच्चिदानंद परमात्मा का एकमात्र मानस पुत्र है। **जब देह को 'मैं' (जीवात्मा) ने अपना स्वरूप मान लिया, तो मैं (जीवात्मा) सब कुछ पाकर भी अन्ततः असन्तुष्ट रहा और आसक्ति में देह त्यागी। जीवात्मा को अपने सच्चिदानंद स्वरूप की स्मृति भी है।** इसलिए देह और देह पर आधारित जगत में कुछ भी पाकर वह तृप्त नहीं होता। कहाँ स्वयं में सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति और वैराग की ईश्वरीय छः विभूतियाँ और कहाँ एक नाम-रूप की देह व उस पर आधारित छोटे से जगत में प्राप्त शक्तियाँ। **इनमें से वैराग को तो वह बिल्कुल उपेक्षित कर देता है** और मात्र पाँच विभूतियों को देह व देह पर आधारित जगत में देखना चाहता है। क्योंकि देह को उसने भ्रमवश अपना स्वरूप मान लिया। अज्ञात रूप से जो वह चाहता है (अपना स्वरूप) वह उसे नहीं मिलता, इसलिए कुछ भी पाने के बाद भटकन बनी रहती है। और-और की चाह असंतुष्टि बढ़ाती रहती है। जो प्राप्त है उसका भी आनन्दपूर्वक भोग वह नहीं कर पाता। सारी दुनिया की सुन्दर वस्तुएँ भी उसके अपने सौन्दर्य के समकक्ष नहीं ठहर पाती। **वह नहीं जान पाता,**

कि वस्तुतः वह चाहता क्या है?

जीवन में हम क्या चाहते हैं, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है, जीवन से हम क्या चाहते हैं यह महत्त्वपूर्ण है। जीवात्मा को स्वयं में पूर्ण सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति व वैराग से परिपूरित अपने स्वरूप की स्मृति अज्ञात रूप से है, लेकिन देह को अपना स्वरूप मानने के कारण जीव भाव से उसका यह सच्चिदानंद स्वरूप आच्छादित हो जाता है। उसे भ्रम हो जाता है, कि उसे इन विभूतियों को प्राप्त करना है और वह प्राप्य की प्राप्ति के लिए अतृप्त, असन्तुष्ट रहता हुआ जन्मों-जन्मान्तरों में सतत् भटकता रहता है, क्योंकि किसी न किसी आसक्ति में ही देह त्यागता है। किसी जन्म में इष्ट-कृपा से उसके भीतर से चीत्कार निकलती है, आर्तनाद होती है, कि मैं जीवन से आखिर चाहता क्या हूँ? जो चाहा मिलता रहा, लेकिन मेरी भटकन क्यों बनी हुई है? यहाँ सद्-इच्छा उत्पन्न होती है, कि "हे प्रभु ! हे दीनानाथ ! मैं नहीं जानता मैं क्या चाहता हूँ। **तुम्हारी इच्छा, तुम्हारी कृपा से मैं तुम्हारे सम्मुख यह प्रार्थना कर रहा हूँ कि मुझे सन्तुष्टि दो, मेरी भटकन समाप्त करो। प्रभु ! मुझे हित-अहित का कुछ भी ज्ञान नहीं है। इच्छाएँ मेरे भीतर उत्पन्न होती हैं, यह न हो कि इनकी पूर्ति के बाद मैं तुम्हारे भजन, सिमरन व जप से वंचित कर दिया जाऊँ। ऐसी कोई प्राप्ति मैं नहीं चाहता, जिससे मैं तुमसे विमुख हो जाऊँ।"** इस प्रकार अब जीव की चाहत सम्पूर्ण जीवन से होती है, जिसे पहले यह भ्रमवश जीवन **में** ढूंढता रहता था। तब वह सच्चिदानंद परमात्मा (निराकार) ही साकार देह में सद्गुरु के रूप में उस जिज्ञासु का मार्गदर्शन करने के लिए प्रकट हो जाता है।

सद्गुरु उसे बताता है, कि तूने इच्छा, इच्छुक स्वयं बनकर, प्रार्थना भी स्वयं की। तुझे यह कहना चाहिए था, कि हे प्रभु ! मेरे भीतर आप ही इच्छुक बनकर बैठे हैं, इसीलिए इच्छा भी आपकी ही है। आपकी इच्छा से आपकी कृपा से ही मैं इस इच्छापूर्ति के लिए प्रार्थना कर रहा हूँ। इस इच्छा का जो अभीष्ट (पाना अथवा खोना) है, वह मेरे हित में हो, वो मुझे प्राप्त हो अन्यथा

न हो। सद्‌गुरु उसके भ्रम का निवारण करता है, कि तूने अभीष्ट वस्तु, व्यक्ति अथवा इनसे सम्बन्धित विधाओं को इच्छाफल माना और **अभीष्ट की प्राप्ति के बाद की मानसिक स्थिति पर विचार ही नहीं किया।** वस्तुतः इच्छाफल, वस्तु, व्यक्ति अथवा इनसे सम्बन्धित विधाएँ नहीं हैं। **उनकी प्राप्ति के बाद हमारी मानसिक स्थिति ही इच्छाफल है।** जैसेकि कभी-कभी धन, प्रौपर्टी, सन्तान, बिल्डिंग, डिग्रियाँ आदि की प्राप्ति के बाद हम और भी तनावित, भयभीत व विक्षिप्त हो जाते हैं। जब इच्छा, इच्छुक स्वयं बनकर हम अभीष्ट वस्तु, व्यक्ति अथवा इनसे सम्बन्धित विधाओं की प्राप्ति अथवा खोने के लिए स्वयं ईश्वर से प्रार्थना करेंगे, तो **दैवीय अधिनियमानुसार अभीष्ट की प्राप्ति के बाद की मानसिक स्थिति पर विचार कर ही नहीं सकते। हममें वह विवेक हो ही नहीं सकता।** कोई महापुरुष वस्तु स्थिति से अवगत कराने का प्रयास भी करेगा तो हम उसकी बातों को एक कान से सुनकर दूसरे कान से निकाल देंगे।

इच्छा, इच्छुक, इच्छापूरक और इच्छाफल जब प्रभु को मान लेंगे और उसी की कृपा से प्रार्थनाएँ करेंगे, तभी वह मानसिक स्थिति बनेगी जिसमें हम सम्पूर्ण जीवन से क्या चाहते हैं, इस विषय पर विचार कर सकेंगे। तभी हम हर उपलब्धि के बाद की मानसिक स्थिति के बारे में सोच पाने के अधिकारी होंगे। **यह मानसिक स्थिति तब बनेगी जब हम 'आसक्त' के स्थान पर 'विरक्त' होंगे।** हम नहीं जानते, कि अतृप्ति और असन्तुष्टि ही आसक्ति की तलवार के रूप में प्रत्येक क्षण हमारे ऊपर लटकी रहती है। क्योंकि कौन सा क्षण जीवन का अन्तिम क्षण होगा हम न जानते हैं और न जान सकते हैं। **जब हम जीवन में भविष्य के स्थान पर जीवन के भविष्य के विषय में चिन्तन करेंगे तब हमारी आसक्तियाँ ही हमें विरक्ति की ओर ले जाएँगी।**

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(8 नवम्बर 2006)

अर्थ

(भाग 3)

होश सम्भालते ही हम सबने स्वयं को सम्पूर्ण देह के साथ पाया। जब मैं स्वयं अपने बारे में Conscious हुआ तो मैंने पूर्ण विकसित देह को अपने साथ पाया, अतः मेरे लिए मेरी देह प्रकट हुई। देह के साथ सम्पूर्ण जगत भी मुझे बना बनाया मिला था। मेरे लिए रहने का स्थान, माता-पिता, परिवार, गाँव, शहर, स्कूल, कॉलेज, हस्पताल, देश, समाज और विश्व सब कुछ बना बनाया प्रकट हुआ। उस होश में मैंने स्वयं को देह के साथ पहचाना, कि 'मैं देह हूँ'। **मैं देह के नाम-रूप से स्वयं को पहचान कर माता-पिता, घर-परिवार में ही रम गया।** मेरे लिए बनी-बनाई देह प्रकट हुई थी, लेकिन इस प्रकटीकरण की एक लम्बी प्रक्रिया भी थी। एक अदृश्य-प्रायः बिन्दु (भ्रूण अथवा Zygote) के रूप में पहले किसी गर्भ में मेरे लिए गर्भाधान हुआ। गर्भ में लगभग 9 महीने की प्रक्रिया में मेरी देह विकसित हुई और एक निश्चित समय पर अबोध शिशु के रूप में धरा पर मेरा पदार्पण हुआ। माँ के गर्भ में जैसा मेरा आकार व रूप, नाक, मुँह, हाथ-पैर आदि बनने थे बन गए। उस निर्माण में मेरी कोई लिप्तता और हस्तक्षेप नहीं था। शैशवावस्था और बाल्यावस्था की प्रक्रियाओं के विविध सोपानों पर होते हुए एक दिन मेरे लिए देह प्रकट हुई। जिसकी समस्त प्रक्रिया मेरी होश में नहीं हुई।

माँ के गर्भ में पूर्ण प्रक्रिया योजनाबद्ध तरीके से हुई। मेरी देह के समस्त अंग, उनकी विशिष्ट कार्य-प्रणालियाँ, उनका परस्पर तारतम्य आदि निश्चित समय में व सुचारू रूप से विकसित हुए। एक समय पर पूर्ण

विकसित देह मेरे लिए प्रकट हुई, जिसकी प्रक्रिया मेरी होश में नहीं हुई। **यदि यह प्रक्रिया मेरी होश में होती, तो मैं अवश्य ही लिप्त हो जाता और फिर भी प्रकाट्य जैसा हुआ, वैसा ही होता।** मैं कुछ नहीं कर सकता था, क्योंकि समस्त प्रक्रिया दैवीय थी। मैं होश में होता तो भी देव शक्तियाँ मेरा परामर्श लेकर कार्यरत न होतीं। मैं तनावित अवश्य रहता, कि मुझे ऐसा लम्बा, काला या बहुत गोरा क्यों बनाया जा रहा है। इसका अर्थ है, कि Process में यदि मेरी Involvement होती तो मैं अवश्य ही न्यूरोटिक (Neurotic) हो जाता, क्योंकि मैं दैवीय प्रक्रिया में कर कुछ नहीं सकता था। मानव-देह जिसका मैं एक नाखून, एक बाल तक नहीं बना सकता, वह देह मुझे बनी-बनाई मिली। **अब देह का प्रकाट्य हो गया और होश आ गई, तो मैं प्रकाट्य भूल गया।** मैं सोचने लगा कि मुझे जीवन में कुछ बनना है। मेरे माता-पिता भी मेरे विषय में चिन्तित रहने लगे। जिन्हें पहले यह भी नहीं पता था, कि गर्भ में आने वाला जीव कौन है, कैसा है। Planning leads on to process. उसके बाद भी जो होना होता है, वही होता है। **लेकिन तथाकथित होश में आते ही मैं मदहोश हो गया और सर्वप्रथम देह पर कब्ज़ा कर लिया, कि मैं अमुक-अमुक हूँ।**

हम मान लेते हैं, कि मुझे देह मेरे प्रारब्धवश मिली है। मेरी माँ को मैं मिला और मेरे पिता को मैं मिला, तो मेरे माता-पिता के प्रारब्ध से मैं उन्हें मिला अथवा मेरे प्रारब्ध से मुझे वे माता-पिता मिले। मेरे भाई-बन्धुओं का भी प्रारब्ध होगा, कि मैं उन्हें भाई के रूप में मिला। वास्तव में प्रारब्ध किसका है? हमारी बुद्धि इतनी संकीर्ण और अवचेतन है, कि जिसने जो कह दिया हम मान लेते हैं। विवेक-बुद्धि से विचार करना ही नहीं चाहते। हम सोचें तो सही किसके प्रारब्ध से पैदा हुए हैं? वह एक प्रारब्ध कौन सा है? हम जन्मपत्रियाँ बनवाते हैं, ज्योतिषियों के पास जाते हैं, मुहूर्त आदि निकलवाते हैं, विवाह-शादियों में लड़की-लड़के की जन्मपत्रियाँ मिलवाते हैं। इसका क्या औचित्य है? बाप-बेटे की पत्री न मिलती हो तो बाप को घर से बाहर निकालेंगे या बेटे को अपना मानना बन्द कर देंगे? **हम सब कुछ स्वीकार**

कर लेते हैं। जहाँ स्वीकार नहीं करते वहाँ ईश्वर के विधानों में हस्तक्षेप करते हैं। We abuse the divinity.

जो हो रहा है, उसके लिए मुझे भ्रम रहता है, कि मैं कर रहा हूँ। हर दृश्य मेरे लिए प्रकट होता है, जिसके नेपथ्य में अवश्य ही एक प्रक्रिया रहती है, जिसमें मुझे लिप्त नहीं होना है। मेरे लिए आज का दृश्य भी स्वतः प्रकट होगा जो ईश्वर द्वारा आनन्द में निर्मित, पालित और संहारित है। **इस दृश्य के प्रकटीकरण में जो मेरे द्वारा हो रहा है, उसके लिए मुझे भ्रम हो जाता है, कि मैं कर रहा हूँ। बस यहीं जीवात्मा जीव कोटि में आकर कर्मबन्धन में फँस जाता है।** कर्म तो हो रहे हैं जिनका कारण, कर्ता सब कुछ ईश्वर है। क्योंकि उसके द्वारा निर्मित, पालित व संहारित सृष्टि का प्रकाट्य उसी की इच्छा से मेरे लिए (जीवात्मा) हो रहा है। मैं (जीवात्मा) उन दृश्यों का मात्र दृष्टा हूँ। मुझे होश इन दृश्यों की वाह-वाह करने के लिए दी गई थी। लेकिन मैंने इस होश का दुरुपयोग करना प्रारम्भ कर दिया और देह के साथ तद्‌रूप होकर स्वयं कर्ता बन गया।

मुझ जीवात्मा को देह निर्मित मिली। **मैंने देह को निर्माणाधीन अवस्था में नहीं देखा। जो निर्मित है, वह पालित भी है, क्योंकि देह के लिए सबसे अधिक प्राथमिक आवश्यकता हवा, सूर्य, धूप, पृथ्वी, आकाश, जल आदि की है, जो हमें ईश्वर से स्वतः मिली हैं**। अतः जो निर्मित है, वह पालित भी है। देह में हृदय स्वतः धड़कता है और गुर्दे आदि सब अंग और कार्यप्रणाली स्वतः कार्यरत रहती हैं। जब देह के लिए हवा, पानी आदि ईश्वर द्वारा स्वतः मिलते हैं, तो पेट पालने की जिम्मेदारी ईश्वर ने हमें क्यों दी होगी? मैं ईश्वर प्रदत्त बुद्धि से यह भी जानता हूँ, कि मैं नहीं जानता कि देह का अन्त कैसे, कब और कहाँ होना है। यह कुछ भी मेरे हाथ में नहीं है। लेकिन देह का अन्त अवश्य होगा, क्योंकि इसका निर्माण हुआ है। जिसने इसका निर्माण किया है, अन्त भी उसी के हाथ में है। मरने के बाद कौन अर्थी बनाएगा, कौन कन्धा देगा, किस शमशान में इसे जलाया या कब्रिस्तान में गाढ़ा जाएगा, इसकी योजना भी अपने लिए कोई नहीं बनाता।

जब देह के संहार की क्रियाएँ होंगी, उन्हें मैं नहीं देखूँगा, क्योंकि तब मैं नहीं रहूँगा। **जो देह स्वतः निर्मित है और स्वतः मेरे लिए संहारित है, वह स्वतः पालित भी है।** निर्माण में ईश्वर ने न जाने मेरे लिए क्या-क्या किया, तो उसका पालन मेरे हाथ में क्यों रखेगा? एक नवजात शिशु के माता-पिता का देहान्त हो जाए तो भी उसका पालन-पोषण होता है और नहीं होना होगा, तो अरबपति माता-पिता भी असमर्थ ही रहते हैं। अतः जो देह मेरे लिए निर्मित है, वह पालित भी है। लेकिन बुद्धिजीवियों को यह बात तर्कसंगत नहीं लगती।

देह का अपना निश्चित कार्यक्रम है, जो मैं बिल्कुल नहीं जानता। दुर्भाग्य यह नहीं है, कि मैं नहीं जानता सबसे बड़ा अपराध यह है कि उत्कृष्टतम् मानव-देह प्राप्त करके भी मैं इन तथ्यों के प्रति जानबूझ कर आँखें मूँदे रहता हूँ और जानना भी नहीं चाहता। किसी का पालन कैसे हो रहा है, यह हमारी बुद्धि अथवा किसी भी बुद्धि से परे है। ईश्वर ने प्राणी-जगत में प्रत्येक के पालन का प्रबन्ध किया हुआ है। जब हम इस परम सत्य को आत्मसात् कर लेते हैं, तो ससम्मान सब कुछ होता हुआ देखते हैं। जो इसे समझना नहीं चाहते, वे सब कुछ स्वयं करते हुए भी अपमानित ही रहते हैं। **एक सम्मानपूर्वक ईश्वर द्वारा पालित सृष्टि का आनन्द लेता है, दूसरा अपमानित होता हुआ पालन करने में संघर्षरत रहता है।**

दुर्भाग्यवश होश सम्भालते ही स्वतः निर्मित और अपने लिए प्रकट देह पर अधिपत्य करके हम सब कुछ न कुछ करना प्रारम्भ कर देते हैं। कोई भी प्रक्रिया हमारे होश में नहीं होती। हम मदहोशी में भ्रमित होकर यह सोचते हैं, कि मैं कर रहा हूँ अथवा मेरे कारण सब कुछ हो रहा है। **यदि मैं कर्ता बनता हूँ, तो कारण भी मैं ही होता हूँ, क्योंकि मेरे हर कृत्य का मेरी दृष्टि से कोई न कोई कारण होता है। कर्ता बनता हूँ और कारण बनता हूँ, तो उसका भोक्ता भी मुझे बनना पड़ता है। यहाँ आनन्द का प्रश्न ही नहीं हो सकता।** यह दैवीय कानून हैं जिसका मैं अपने विभिन्न प्रवचनों में अनेक बार वर्णन कर चुका हूँ। **जो भी दृश्य मेरे सम्मुख प्रकट होते हैं, उसमें जो कुछ भी**

होता है, वह वस्तुतः हो चुका होता है। उन दृश्यों में जो मैं कर रहा हूँ, वह मुझ से करवाया जा रहा है। इसका अर्थ है जो करवाया जा रहा है, वह स्वतः पूर्वनिश्चित कार्यक्रम के अनुसार हो रहा है। मैं कुछ नहीं कर रहा। जो कुछ हो रहा है, उसके बाद निश्चित रूप से कुछ न कुछ होगा। पाना-खोना, लाभ-हानि, सुख-दुःख कुछ भी होगा, **जो कुछ होगा, वह भी हो चुका है।**

सोचना, करना, होना कुछ भी हमारे हाथ में नहीं है। हम हर पल कुछ न कुछ सोचते हैं, लेकिन हर सोच क्रियान्वित नहीं होती। जो सोच क्रियान्वित हुई, वह ईश्वरीय होती है। क्योंकि कोई भी कृत्य व्यक्तिगत कृत्य नहीं है। छोटे से छोटे कृत्य के लिए सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का हस्तक्षेप अपेक्षित है। देह का स्वस्थ होना, मौसम व परिवार के विभिन्न लोगों की अनुकूलता, सड़क पर वाहनों की स्थितियाँ और न जाने क्या-क्या दैवीय संस्थानों द्वारा हमारे लिए होता है। तभी कोई सोच क्रिया रूप में परिणत होती है और फिर कुछ होता है। किसी भी सोच, कृत्य और प्रकट होने के निम्नतम आयाम में यह भाव होता है, कि मैंने सोचा और किया, तब यह हुआ। यहाँ हम स्वयं कर्ता बन जाते हैं और कारण भी हमी होते हैं। इससे ऊपर के आयाम में यह भाव होता है, कि मेरे द्वारा हो रहा है, करवाने वाले प्रभु हैं। यहाँ हम उस कृत्य के निमित्त बन जाते हैं। **निमित्तता भी सूक्ष्म अहं है।** इसका अभिमान कर्ता के अभिमान से अधिक भयंकर है। **कर्ता के अभिमान से तो संत-कृपा से छूटा जा सकता है, लेकिन निमित्तता का अभिमान गर्त में ले जाता है।** विवेक बुद्धि से मुझे सोचना होगा, कि प्रभु तो किसी से कुछ भी करवा सकते हैं, मुझे ही निमित्त क्यों बनाया? इस निमित्तता के अभिमान से छूटने का एक ही उपाय है। हम यह धारणा करें, कि जो कुछ भी मेरे द्वारा अथवा किसी के भी द्वारा हो रहा है, वह हो चुका है। **प्रभु द्वारा निर्मित, पालित और संहारित सृष्टि का मैं मात्र दृष्टा हूँ। अतः मैं केवल उसकी वाह-वाह करूँ।**

भगवान श्रीकृष्ण ने महाभारत के युद्ध के समय अपने सम्बन्धियों के

मोह से ग्रस्त अर्जुन को गीता का उपदेश दिया। निराश व अवसादित मनःस्थिति में घिरे अर्जुन को जब कुछ पल्ले नहीं पड़ा, तो गीता के ग्यारहवें अध्याय में भगवान ने उसे अपना विराट स्वरूप दिखाया। इन दृश्यों को देखने के लिए उसे दिव्य चक्षु भी दिए। अर्जुन ने देखा, कि कौरवों के अधिकतर महारथी, भीष्म पितामह आदि मृतकावस्था में धरा पर पड़े हैं। भगवान ने अपने उस विराट स्वरूप में अर्जुन को भूत, भविष्य सहित त्रिलोकी के समस्त दृश्य दिखा दिए। भगवान ने विराट स्वरूप को दिखा कर अर्जुन को जनवाया, कि तू भ्रमवश समझ रहा है, तूने अपने तथाकथित स्वजनों को मारना है। उन्हें तो मैं पहले ही मार चुका हूँ। **समस्त सृष्टि मेरे द्वारा निर्मित, पालित व संहारित है।** तू आनन्द से गाण्डीव उठा और मार। तेरे द्वारा भी जो कुछ होना है, वह भी मैं कर चुका हूँ।

इस समस्त प्रकरण को मैं सिनेमा पट पर चलते चलचित्र के माध्यम से सरलता से समझाने का प्रयास करूँगा। मान लो, मुगलेआज़म फिल्म सिनेमा पट पर चल रही है और स्वयं दिलीप कुमार देख रहा है। उसके नायक शहज़ादा सलीम की भूमिका दिलीप कुमार के द्वारा होती दिखाई जा रही है। दिलीप कुमार पहले से रिकार्ड हुई फिल्म देख रहा है। स्वयं में सलीम मानकर दिलीपकुमार यदि बैठा-बैठा दुःखी-सुखी होने लगे, कि मेरी अनारकली को मुझसे छीना जा रहा है। मेरा पिता हिन्दुस्तान का बादशाह है, वह मेरे दिल पर भी हकूमत क्यों करना चाह रहा है, तो उसे सब मूर्ख ही घोषित करेंगे। उसे सब यही कहेंगे, कि सम्पूर्ण दृश्य पहले ही रिकार्ड हो चुके हैं जो होना था वह हो चुका है तू आगे देख क्या होगा? आगे भी जो कुछ होगा, वह रिकार्ड हो चुका है। रिकार्ड करने वाला, फिल्म का निर्माण, पालन व संहार करने वाला निर्देशक एक ही है। **इसी प्रकार ईश्वर के द्वारा सम्पूर्ण निर्मित, पालित और संहारित सृष्टि के दृश्यों का दृष्टा जीवात्मा भी एक ही है। ईश्वर का ही अंश, उसी की भाँति सच्चिदानंद और उसका एकमात्र मानस-पुत्र है। यदि है तो एक ही प्रारब्ध है। जीवात्मा भी एक है और जीव भी यदि है तो एक ही है।** वह एक से अनेक होता है। यही उसकी

जीव सृष्टि है, जिसका आधार उसे दी गई एक नाम-रूप की देह है। जीवात्मा के साथ यही दुर्घटना हो गई, कि सृष्टि के दृश्यों को देखने के लिए उसे दी गई देह के साथ भ्रम हो गया, कि 'मैं यह देह हूँ'। **इस भरम से वह सृष्टि के मायिक दृश्यों में उलझ कर 'रम' गया।** वह भूल ही गया, कि सृष्टि स्वतः निर्मित, पालित व संहारित है।

जब देह बनी उसकी प्रक्रिया में मुझे होश नहीं थी अतः निर्माण मेरी होश में नहीं हुआ और संहार भी मेरी होश में नहीं होगा। पालन भी स्वतः हो रहा है। यदि हमारे द्वारा कुछ हो रहा है, तो उसके निमित्त भी हम न बनें। तहे-रूह से यह मान लें, कि प्रभु किसी के द्वारा भी करवा सकते हैं। देह धारण करके यही एकमात्र कर्म है, जिसके लिए मुझ जीवात्मा को मानव-देह दी गई है। **एक 'कर्ता' भाव है, एक 'होता' भाव है। होता भाव निमित्तता का भाव है, जिससे सूक्ष्म अहं पनपता है।** निमित्तता के भाव के उन्मूलन के लिए यह धारणा करनी होगी, कि जो मेरे द्वारा हो रहा है और उसके बाद भी जो कुछ होगा, वह वस्तुतः हो चुका है। तभी हम प्रभु द्वारा निर्मित, पालित व संहारित सृष्टि का दृष्टा भाव में आनन्द ले पाएँगे।

जब तक विरक्ति नहीं होगी, तब तक प्रकट शक्तियों का आनन्दपूर्वक भोग असम्भव है। हम होश सम्भालते ही भाग-दौड़ कर अनेक प्रकार की शक्तियाँ अर्जित कर लेते हैं—धन की, पद-प्रतिष्ठा की, जनबल, सौन्दर्य व ज्ञान आदि की तरह-तरह की प्राप्त शक्तियाँ हमारे भय एवं तनाव का हेतु बनी रहती हैं। इसका एक कारण यह है, कि हममें उन शक्तियों को सम्भालने की शक्ति नहीं होती। परन्तु मुख्य कारण यह होता है, कि **भ्रमवश हम यह मान लेते हैं, कि प्राप्तियाँ हमारे परिश्रम करने से हुईं है अथवा हमारे कारण हुई हैं।** जबकि वास्तविकता यह है, कि जो हम कर रहे हैं, वह हमारे द्वारा हो रहा है।

कभी हमें किसी महापुरुष के चरणों में बैठ कर सत्संग सुनने का अवसर मिल जाए, तो इसे ईश्वर की कृपा ही मानना चाहिए। **ईश्वर की कृपा हुई और सत्संग में सम्मिलित हो पाए इसलिए हम भाग्यशाली हैं।**

हम भाग्य से सत्संग प्राप्त नहीं करते, बल्कि सत्संग का मिल जाना ही हमारे सौभाग्य का सूचक है। सद्‌गुरु व इष्ट की कृपा अकारण ही होती है। कभी कृपा पात्रता का कारण स्वयं को नहीं मानना; नहीं तो कृपा का प्रवाह वहीं रुक जाएगा। **जहाँ हम अपने ऊपर हुई कृपा का कारण स्वयं में खोजते हैं, वहाँ दुर्भाग्यशाली हो जाते हैं।**

सृष्टि में निर्माण, पालन और संहार तीनों विधाएँ स्वतः ईश्वर इच्छा में होती हैं। मुझे निर्मित देह मिली। मेरे माता-पिता को भी जब देह मिली तो निर्मित मिली। देह के निर्माण में सब कुछ मेरे और मेरे माता-पिता के परामर्श के बिना हुआ। उत्कृष्टतम बुद्धि से हम जानते हैं, कि देह का निर्माण हमारे अधीन नहीं था। पालन भी हमारी बुद्धि से परे है। **हम किसके पालन का ज़रिया हैं, उसके पालन का ज़रिया हमें किसने और क्यों बनाया है? हमारे पालन का ज़रिया ईश्वर ने किस को और क्यों बनाया है?** यह यब हमारी बुद्धि का विषय नहीं है। हम बहुत बड़ा भ्रम पाले हुए हैं, इसीलिए हमारा आनन्द लुप्त हो जाता है।

प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में एक वृत्ति होती है। वह वृत्ति हमारी अपनी होती है, लेकिन कार्य समाप्त होने के बाद जो वृत्ति बनती है उस पर हमारा कोई अधिकार नहीं है। वह मात्र ईश्वर के अधीन है। प्रत्येक कर्म के पहले हमारी नीयत ही हमारे कर्म की गुणात्मकता का आधार होती है। कर्म का Mode, Diversion, Diversities, Dedication, Density, आदि कर्म के पहले हमारी वृत्ति पर आधारित होता है जिसका निर्णय हम स्वयं कर सकते हैं। भगवान कर्म-फल की नाप-तोल उस वृत्ति के माध्यम से करते हैं। कार्य की समाप्ति पर हमारी जो वृत्ति बनती है, वह मात्र ईश्वराधीन होती है। **दैवीय संस्थानों के मूल्यांकन का आधार यह रहता है, कि उस कर्म के हम कारण और कर्ता तो नहीं बने, उस कार्य को करने के पीछे हमारी नीयत में स्वार्थ है अथवा परमार्थ है।** सृष्टि में होने वाली प्रत्येक क्रिया का कारण तो ईश्वर है, तो हम कारण बनकर दैवीय दृष्टि में अपराध ही करते हैं। **कर्म होने के बाद प्राप्ति या खोना कर्मफल नहीं है। कर्म होने के बाद प्राप्ति या**

खोना के रूप में कुछ भी होने के बाद हमारी मानसिक स्थिति जो ईश्वर के हाथ में है, वही हमारा कर्मफल है।

हमने कहा था, जो भी हमारे द्वारा हो रहा है, वह वस्तुतः हो चुका है। **हमारी मानसिक स्थिति जब यह बन जाएगी, कि जो मेरे द्वारा हो रहा है, वह प्रभु किसी के द्वारा भी करवा सकते हैं तो** उसमें हम आनन्दित ही होंगे। इस मानसिक स्थिति में प्रविष्टि आवश्यक है, जो कृपा साध्य है। हमें स्वयं में पूर्णतः आश्वस्त होना होगा, कि मैं कुछ नहीं कर रहा, सब कुछ स्वतः हो रहा है। वहाँ निमित्तता का भाव भी न रहे, कि प्रभु मेरे द्वारा करवा रहे हैं। वे सर्व समर्थ हैं, किसी के द्वारा भी करवा सकते हैं। जब वह स्थिति आएगी, तब जो कुछ भी होगा, हमारे लिए प्रकाट्य होगा, क्योंकि सब कुछ पहले ही हो चुका है। जीवात्मा मात्र दृष्टा है।

जो काम मैं कर रहा हूँ, वह हो चुका है तो मैं निमित्त कैसे हुआ? मेरे ऊपर अकारण ही कृपा है, कि प्रभु मेरे द्वारा होता दिखा रहे हैं। जो करवा रहे हैं, वह हो चुका है। **जीवात्मा अदृश्य व निराकार है और ईश्वर द्वारा स्वतः निर्मित, पालित व संहारित सृष्टि का मात्र दृष्टा है।**

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(29 अक्टूबर 2006)

अर्थ

(भाग 4)

सृष्टि के इस समस्त प्रपंच का कारण, निर्माता, निर्देशक, पालनकर्ता और संहारकर्ता ईश्वर है, जो अदृश्य है। समस्त क्रियान्वयन (Activity) अदृश्य में होता है, क्योंकि कर्ता ईश्वर है। वह सृष्टि का निर्माण, पालन और संहार स्वतः, स्वयं में और स्वान्तः सुखाय करता है। इसीलिए जो कुछ हम करते हुए दृष्टिगत होते हैं, वह वस्तुतः स्वतः हो रहा है। वह अदृश्य (ईश्वर) की प्रेरणा से हमारे द्वारा करवाया जा रहा है। **इसलिए हम कर नहीं रहे हैं, वह हो रहा है। जो कुछ भी हो रहा है, वह वस्तुतः हो चुका है।** समस्त सृष्टि जो दृश्यमान है, वह पहले से ही स्वतः निर्मित, पालित और संहारित है, जो शिव-शक्ति-क्रीड़ा का बाह्य प्रकाट्य है। यहाँ जो कुछ भी होता दिखाई दे रहा है, वह उसकी क्रीड़ा का बाह्य प्रकाट्य है। जो कर-करवा रहा है, वह अदृश्य है। **समस्या वहाँ हुई, जहाँ दृश्यमान (जीव) ने समझ लिया और मान लिया, कि मैं कर रहा हूँ और मेरे करने से हो रहा है। जबकि दृश्य में हो रहा है और अदृश्य कर-करवा रहा है।** इसलिए जीवात्मा को ईश्वर ने अति चमत्कारिक, अद्‌भुत्, परम विलक्षण और समस्त दृश्यमान प्रपंच का संघनित रूप एक मानव-देह दी, कि ''हे जीवात्मा ! मैं तुझे प्रपंच से परिपूरित मानव-देह दे रहा हूँ, जो इस समस्त मायिक मायाजाल का आधार है। इसका अवलम्बन लेकर इस प्रपंच के **'अर्थ'** को समझ।''

महादुर्भाग्यवश जीवात्मा को भ्रम हो गया, कि मैं यह देह हूँ। इस भाव के आते ही वह जीवात्मा से जीव बन गया। यह अज्ञानवश, मोहवश सत्संग

के अभाव के कारण स्वतः कर्ता और कारण बन गया । इसमें 16 प्रकार की एषणाएँ (इच्छाएँ) उत्पन्न हो गईं–**1. वित्तेषणा 2. पुत्रेषणा 3. कामेषणा 4. नामेषणा 5. धामेषणा 6. राजेषणा 7. काजेषणा 8. साजेषणा 9. इष्टेषणा 10. अभीष्टेषणा 11. जीतेषणा 12 मीतेषणा 13. छलेषणा 14. बलेषणा 15. ज्ञानेषणा 16. ध्यानेषणा।** इनमें से प्रत्येक एषणा जब पूर्ण होती है, तो वह **एक हज़ार** अन्य एषणाओं को जन्म देती है। इनमें जीव जन्मों-जन्मान्तरों में भटकता रहता है। इसकी अतृप्ति और असंतुष्टि ही आसक्ति बनकर देह के छूटने के बाद इसके मानस पर अंकित रहती हैं। यह अपने ही बनाये मायाजाल में जन्मों-जन्मान्तरों के काल-चक्र में भटकता रहता है। ये 16,000 एषणाएँ श्रीकृष्ण की चहेतियाँ हैं। 108 राधा के रूप हैं, जो योग माया है और कृष्ण से मिलाती है। ये 16,108 एषणाएँ जीव को नचाती हैं, लेकिन कृष्ण इनको नचाता है। इनके साथ रास करता है। यह सब दृश्यमान प्रपंच है। इसके स्वामी श्रीकृष्ण (ईश्वर) हैं।

स्रष्टा (ईश्वर) अदृश्य है, दृष्टा (जीवात्मा) अदृश्य है और सृष्टि दृश्यमान है। जीवात्मा इस दृश्यमान का आधार एक मानव-देह को जब अपना स्वरूप मान बैठा तो इस प्रपंच में फंस गया। यह स्वयं कर्ता और भोक्ता बन गया। सम्पूर्ण सृष्टि का आधार इसे दी गई मानव-देह का अवलम्बन लेकर समस्त प्रपंच का अर्थ समझाने का प्रयत्न करने की बजाय इस प्रपंच को ही सत्य मान बैठा। वहीं से इसकी अधोगति प्रारम्भ हो गई और यह **'अर्थ'** से गिरना शुरू हो गया। अर्थ से निरर्थ, व्यर्थ और अनर्थ होना प्रारम्भ हो गया। इस अनर्थ की कोई सीमा नहीं थी। जब ईश्वर की विशिष्टतम् कृपा से इसने सृष्टि के इस प्रपंच का अर्थ जानने का प्रयास किया तो अर्थ से धर्म, काम और मोक्ष के सोपानों पर ऊर्ध्वगति करने लगा। मोक्ष में भी सब कुछ असीम था। इस प्रकार इसका गिरना-उठना दोनों असीम हैं। **यदि हम इस अर्थ का अर्थ यानि अर्थार्थ जान लें, तो 'अर्थ' की ऊर्ध्व व अधः पतन** दोनों विधाओं पर हमारा अधिकार हो जाएगा। अर्थ से मोक्ष और अर्थ से अनर्थ दोनों अर्थ की विधाएँ हैं। जीवात्मा नीचे गिरा तो अर्थ

से और ऊपर उठा तो अर्थ से। मोक्ष और अनर्थ दोनों विपरीत ध्रुव हैं, लेकिन दोनों शिव-शक्ति-क्रीड़ा की विधाएँ हैं। **जीवात्मा भ्रमवश स्वयं को देह मानकर जीव बना हुआ मान लेता है, कि मेरी ऊर्ध्वगति हो रही है अथवा मेरा अधःपतन हो रहा है।** जबकि समस्त दृश्यमान सृष्टि निराकार व अदृश्य में हुई शिव-शक्ति-क्रीड़ा का बाह्य प्रकाट्य है। कोई भी स्वयं को उठा हुआ तभी तो कहेगा, जब उसे गिरे हुए का ज्ञान होगा। इसका अर्थ है, उसकी गिरावट उससे दूर नहीं गई। पिछड़ेपन से सम्बन्ध होने पर ही हम कहते हैं, कि हमने बहुत उन्नति की।

अर्थ का अर्थ जानने के लिए हमें जीवन-काल **में** जीवन **का** भविष्य देखना होगा। जीवन **'में'** भविष्य अनन्त हैं। वे सब उपर्युक्त 16 एषणाओं में ही हैं। लेकिन प्रत्येक की पूर्ति हज़ार अन्य एषणाओं को जन्म देती है और जीव भटक जाता है। मानव, जीवन के अर्थ से च्युत होता हुआ अनर्थ की अधोगति को प्राप्त करता है। मानव-जीवन का अर्थार्थ जीवन **का** भविष्य जीवन-काल में दिग्दर्शित करना है। जीवन **में** भविष्य अनिश्चित हैं, लेकिन जीवन **का** भविष्य निश्चित है। जो भविष्य अनिश्चित हैं, उन्हें हम देखना चाहते हैं। लेकिन जो भविष्य सुनिश्चित एवं परिलक्षित है, हम जीवन-काल में उसकी चर्चा करना तो दूर, उसके विषय में सोचना भी नहीं चाहते। **जो सुनिश्चित भविष्य है, वह सबका एक ही है और जीवन में भविष्य अनिश्चित हैं, वे असंख्य और सबके पृथक्-पृथक् हैं।** मानव-देह का मात्र यही कर्म है, जो कृपा-साध्य है, कि जीवन-काल में हम जीवन का भविष्य सुनिश्चित करते हुए, उसे दिग्दर्शित करने का लक्ष्य बना लें। यदि इसके प्रति लालायित नहीं होंगे, तो निश्चित रूप से अर्थ से अनर्थ में चले जाएँगे। यदि जीवन **के** भविष्य (भस्मी) के प्रति लालायित होते हैं, तो हम अर्थ से मोक्ष में जाते हुए जीवन **में** भविष्यों का भी आनन्द लेंगे।

दोनों (जीवन **में** और जीवन **का**) भविष्यों के मध्य एक **बहुत सुदृढ़ दीवार है, जिसका भेदन करना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है।** इस दीवार में एक **द्वार** है, जिसके स्वामी या अधिपति श्रीकृष्ण हैं। इसीलिए

श्रीकृष्ण को **'द्वारकाधीश'** कहा गया है। श्रीकृष्ण 16,000 एषणाओं को नचाते हैं। वे ही जीवन **में** भविष्य और जीवन **का** भविष्य के मध्य की दीवार के द्वार के स्वामी हैं। श्रीकृष्ण की कृपा से ही जीवात्मा जीवन-काल में इस द्वार के पार जाकर फिर वापिस आ सकता है। **जीवन का भविष्य भस्मी में पहुँच कर कोई वापिस नहीं आता, लेकिन श्रीकृष्ण में यह शक्ति है, कि जीवात्मा उसकी कृपा से जीवन-काल में जीवन का भविष्य (भस्मी) देखकर जीवन में विभिन्न भविष्यों का भी आनन्द लेता है।** यही मानव-जीवन का लक्ष्य है। जिसके लिए जीवात्मा को मानव-देह मिली है।

कृष्ण को योगमाया राधा ही प्रसन्न कर सकती है। प्रसन्नता होने पर राधा जीवन **में** भविष्य और जीवन **का** भविष्य के मध्य बनी दीवार के पार ले जाकर पुनः जीवन **में** लौटा लाती है। जीवात्मा तभी योग और भोग दोनों का आनन्द लेता है। यही मानव-जीवन का लक्ष्य है। **यही अर्थ का अर्थ यानि अर्थार्थ है,** जो मात्र द्वारकाधीश की कृपा से हो सकता है।

हम जो कर रहे हैं, वह हो रहा है और जो हो रहा है, वह हो चुका है। अदृश्य कर रहा है, दृश्य में हो रहा है। हम अज्ञानवश ही समझ रहे हैं, कि मैं कर रहा हूँ। हमारी देह के भीतर असंख्य अदृश्य क्रियाएँ अनवरत चल रही हैं, जो हमें बाह्य जगत में चला रही हैं। जो हमें चला रही हैं, वे क्रियाएँ अदृश्य हैं और जो उन अदृश्य क्रियाओं को चला रहा है, वह स्वयं भी अदृश्य है। दोनों परस्पर सीधे सम्बद्ध हैं। **जो बाहर चल रहा है, वह हो रहा है। होना प्रकट होता है।** जब मेरे भीतर की अदृश्य क्रियाएँ मेरे अधीन नहीं हैं, तो बाहरी क्रियाएँ मेरे वश में कैसे हो सकती हैं? उनका कारण और कर्ता मैं कैसे हो सकता हूँ? **स्पष्ट है, कि हमारी समस्त बाह्य क्रियाएँ हमारे मन-बुद्धि एवं देह में अदृश्य रूप से चलने वाली आन्तरिक क्रियाओं का परिणाम हैं।** हमारा हृदय, गुर्दे, रक्त-संचार की कार्य-प्रणाली, श्वास-प्रश्वास तथा अन्य अगणित क्रियाएँ जब सुचारू रूप से होती हैं, तभी बाह्य क्रियाएँ होती हुई दृश्यमान होती हैं। हमारे मन में असंख्य भाव उठते रहते हैं। बुद्धि में किसी भी सोच का आना, उसका क्रिया रूप में परिवर्तित होना, मस्तिष्क

में चलने वाली असंख्य, अदृश्य क्रियाओं का फल होता है। उन अदृश्य क्रियाओं को न हम जानते हैं और न ही जान सकते हैं। **इसीलिए जब बाह्य दृश्यमान क्रियाओं में हम कर्ता का भाव ले आते हैं, तो हमारे द्वारा उन अदृश्य क्रियाओं में अनधिकृत हस्तक्षेप होता है और वे अस्त-व्यस्त हो जाती हैं।**

एक व्यक्ति को कभी हम बहुत पसन्द करते हैं, उसी व्यक्ति से एक दिन घृणा करने लगते हैं। हमारे मस्तिष्क में अदृश्य रूप से होने वाली असंख्य क्रियाओं ने समय-समय पर एक बाह्य क्रिया प्रकट की, तो हमारा किसी को पसन्द या नापसन्द करना, उन अदृश्य क्रियाओं के परिणामस्वरूप ही हुआ। मानव-देह में उत्कृष्टतम् चेतनायुक्त बुद्धि पाकर इतना तो हम सोच ही सकते हैं कि जब वे अदृश्य क्रियाएँ हमारे हाथ में नहीं हैं, तो यहाँ कुछ भी हमारे हाथ में कैसे हो सकता है? **मैंने सोचा और मैंने किया, कह कर हम हो रहे पर किए का भाव ले आते हैं। यह भाव आते ही वे आन्तरिक अदृश्य क्रियाएँ अस्त-व्यस्त हो जाती हैं। उन अदृश्य क्रियाओं का होना अदृश्य ईश्वरीय शक्तियों के हाथ में है। इस प्रकार समस्त ईश्वरीय शक्तियाँ हमारे प्रतिकूल हो जाती हैं।**

इसी प्रकार हमारी देह के बाहर का प्रकृति सहित समस्त चराचर जगत भी हमारे हाथ में नहीं है। संध्या ढल गई, अब रात होगी, अँधेरा बढ़ता जाएगा, रात को मौसम कैसा होगा, रात्रि में हमें सुषुप्तावस्था में कौन से स्वप्न आएँगे? फिर सुबह होगी, एक बाह्य जगत पुनः हमारे सम्मुख होगा, वह कैसा होगा? हम नहीं जानते। सारांश में हमारी देह के भीतर अदृश्य रूप से चलने वाली असंख्य क्रियाओं और बाह्य जगत में दृश्यमान होने वाली असंख्य क्रियाओं पर हमारा कोई अधिकार नहीं है। यह सब जिसकी वजह से हो रहा है, वह (ईश्वर) अदृश्य है।

ब्रह्मत्व में निर्माण होता है, **विष्णुत्व** में पालन होता है और **शंकरत्व** में संहार होता है। कुछ भी हमारे हाथ में नहीं है। **जीवन में गर्भावस्था, शैशवावस्था, सुषुप्तावस्था, मूर्च्छावस्था, मृतकावस्था और भस्मावस्था में**

हमारा कानूनन कोई हस्तक्षेप हो ही नहीं सकता। जीवन की समस्त अवस्थाओं में **तथाकथित जाग्रत अवस्था ऐसी है,** जिसमें हम हस्तक्षेप करने से बाज नहीं आते। तथाकथित होश सम्भालते ही ईश्वर प्रदत्त समस्त शारीरिक, बौद्धिक व मानसिक शक्तियों से केवल स्वतः और आनन्दमय चलने वाली ईश्वरीय क्रियाओं में मात्र हस्तक्षेप ही करते हैं।

देह-चिन्तन के बिना आत्म-चिन्तन नहीं हो सकता। मैंने इष्ट-कृपा से इस मानव-देह को महापुराण की संज्ञा दी है। यह मानव-देह पूजनीय है, क्योंकि इसका एक-एक रोम ईश्वर द्वारा निर्मित, पालित और संहारित है। आत्म-चिन्तन के लिए इसकी आवश्यकता है। जब सब कुछ ईश्वर के हाथ में है, तो ईश्वर ने देह में हमें यह तथाकथित जाग्रतावस्था क्यों दी होगी, जिसमें हम हस्तक्षेप कर सकते हैं? यह सद्‌गुरु बताता है—**उत्तिष्ठ-जाग्रत।** मानव होते हुए भी हम सो कर उसी प्रकार उठते हैं, जैसे अन्य समस्त पशु जगत सुषुप्तावस्था से उठता है। समस्त पशु जगत उठते ही अपने खाने-पीने, रहने आदि की व्यवस्था में लग जाता है। उसी प्रकार हम भी दिन भर वही करते हैं। रात को हम पुनः सो जाते हैं। मानव-देह धारण करके उठ कर **'जागना'** बहुत आवश्यक है। पशु जगत यह नहीं कर सकता। **मानव ही उठ कर जाग सकता है, इसके लिए सद्‌गुरु-कृपा अपेक्षित है।**

यह उठकर जागना क्या है? सद्‌गुरु शेष अवस्थाओं को शिष्य के सम्मुख रख देता है, कि तू कभी माँ के गर्भ में था, कभी शिशु भी था, रोज़ सोता है, कभी-कभी मूर्च्छित भी होता है, मरेगा भी और तेरी भस्मी भी अवश्य बनेगी। गर्भावस्था और शैशवावस्था में तेरा बिल्कुल हस्तक्षेप नहीं था। तू जानता है मूर्च्छावस्था, मृतकावस्था, सुषुप्तावस्था, भस्मावस्था में तू चाहे, तो भी दखल नहीं दे सकता। **इन छः अवस्थाओं में से अपनी पसन्द की किसी अवस्था को इस तथाकथित जाग्रत अवस्था में उठ कर उतार ले।** तुझे सोना बहुत पसन्द है, निद्रा में तू काल से परे होता है। तू धर्मातीत, लिंगातीत, देशातीत, कर्तव्यातीत, कर्मातीत, सम्बन्धातीत, प्रौपर्टी, मान, कारोबार और माया के तीनों गुणों से परे होता है। साथ ही अपनी देह और

जगत से भी परे होता है। उसमें तेरा हस्तक्षेप इसीलिए नहीं होता, क्योंकि तू सोया हुआ होता है। **अब उस अवस्था को उठकर ध्यान (समाधि) द्वारा धारण कर ले, यही मानव-देह धारण करके तेरा कर्म है, जो पशु नहीं कर सकता।**

आनन्द देहातीत और अभावमय है, जहाँ सुख-साधन और सुख लेने वाली इन्द्रियों की कोई भूमिका नहीं होती। प्रभु ने नित्य निद्रा का अद्भुत विधान रखा है। **सुषुप्तावस्था में हम उसी अभावमयी स्थिति में चले जाते हैं, लेकिन उस अभावमय आनन्द की अवस्था का हमें अनुभव नहीं होता।** क्योंकि हम भी सो जाते हैं। इसके लिए हमें सद्गुरु-कृपा से सुषुप्तावस्था से उठकर, **जागना** होगा अर्थात् ध्यान (समाधि) द्वारा सुषुप्तावस्था की मानसिक स्थिति में प्रविष्ट होना होगा। वही हमारी जागृति है। हम रोज़ सोना चाहते हैं, कि कोई मुझे तंग न करे। पत्नी, धन, कारोबार, सन्तान, समाज, नाम-यश, धर्म-कर्म आदि के लिए हम दिन भर जो संघर्ष करते हुए भागते रहते हैं, उससे थक कर सोना चाहते हैं। सुबह उठकर फिर उसी में लग जाते हैं, जिससे थक कर हम सोए थे। **तथाकथित जागृति के दोनों ओर निद्रा है।** नींद से हम उठते हैं और फिर नींद में जाते हैं। हमें भली-भाँति ज्ञान है, कि नींद में हमें धर्म, कर्म, सम्बन्ध, देश-काल, पद-प्रतिष्ठा, नाम-यश, सुख-दुःख आदि का कोई आभास नहीं होता। लेकिन हम फिर भी इस तथाकथित जाग्रतावस्था में आजीवन ही नहीं जन्म-दर-जन्म इन्हीं के लिए भटकते रहते हैं। **अतृप्ति, असंतुष्टि और आसक्ति लिए हुए पुनः पुनः जन्मते-मरते रहते हैं।** निद्रा में हम देह और देह के समस्त अलंकरण (देश-काल, धर्म-कर्म, सम्बन्ध, पद-प्रतिष्ठा, नाम-यश आदि) उतार कर ही जा पाते हैं। उस निद्रा में हमारे हाथ में कुछ नहीं होता। यदि हम निद्रा से उठकर देह को सुला दें, यानि अपनी सुषुप्तावस्था को देख लें, तो वही जागृति है, जिसे **'समाधि'** (सम+धि) कहा है। समाधि में **'धि'** यानि बुद्धि जब सम होगी, तभी हमारी दिव्य बुद्धियों (विवेक, प्रज्ञा, मेधा और ऋतम्भरा) का प्राकट्य होगा।

भजन-कीर्तन, भाव समाधि, यज्ञ-हवन किसी भी प्रकार से हम उस मानसिक स्थिति में प्रविष्ट हो जाएँ जिसमें देह की अवचेतना की समस्त विधाएँ लीन हो जाएँ और पुनः हमारी ईश्वरीय चेतना जाग्रत हो जाए। यही जीवन है। जीवन (जीव+न) अर्थात् मैं जीव नहीं, अपितु विशुद्ध चेतन जीवात्मा हूँ—इसकी अनुभति करना ही मानव-जीवन का लक्ष्य है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(6 – 7 दिसम्बर 2006)

संसार एक नाट्यशाला

परमात्मा स्रष्टा है और वही **जीवात्मा** के रूप में **दृष्टा** बन जाता है। ईश्वर द्वारा यह भेद साभिप्राय रखा गया है। किसी भी रचना के बाद उसके स्रष्टा, रचनाकार, लेखक, कवि अथवा चित्रकार की यह इच्छा होती है, कि उसकी कोई प्रशंसा करे। वही उसकी संरचना की प्रशंसा कर सकेगा जिसका बौद्धिक, मानसिक स्तर उस रचनाकार जैसा होगा। साथ ही वह स्वयं रचना करने में नितान्त असमर्थ भी होना चाहिए। कोई भी आर्किटैक्ट बिल्डिग का केवल डिज़ाइन देता है। वह नक्शा बनाने का पैसा लेता है, बिल्डिंग के लिए आर्थिक व्यवस्था कोई और करता है, भवन निर्माण कोई और करता है। **परमात्मा सृष्टि की रचना करता है और अद्वैत में द्वैत रूप में अपने ही मानस-पुत्र जीवात्मा को दृष्टा बनाता है। वह उसी के जैसा होते हुए और समस्त भेद जानते हुए भी रचना करने में स्वयं असमर्थ होता है। उसे यह ज्ञान नहीं है, कि आगे क्या होना है। इसलिए वह कौतूहलवश आगे आने वाले दृश्य देखता है और वाह-वाह करता है। उसे उन दृश्यों की गहराई के सूक्ष्मतम बिन्दुओं की समझ भी होती है।**

परमात्मा यदि स्वयं ही जीवात्मा बना है, तो उसने यह भेद क्यों रखा ? वह स्रष्टा था, सृष्टि उसके द्वारा निर्मित, पालित व संहारित थी, वह स्वयं ही दृष्टा बनकर देख सकता था। लेकिन अपनी कविता स्वयं पढ़ने का आनन्द नहीं आता, उसके लिए ऐसा पाठक चाहिए जो उस रचनाकार का प्रशंसक और उसके समान चेतना व समझ से युक्त होते हुए भी स्वयं वह रचना करने में असमर्थ हो। चित्रकार की कोई पेन्टिंग बनाकर किसी दूसरे

से प्रशंसा पाने की इच्छा होती है। एक गन्धी (इत्र बेचने वाला) किसी गाँव में इत्र बेचने गया। वहाँ इत्र की पहचान किसी को नहीं थी। एक गाँव वाले ने उससे हाथ पर इत्र रखने को कहा। जैसे ही गन्धी ने उसके हाथ पर इत्र की एक दो बूँदें रखीं, उसने उन्हें चाट लिया और कहा कि यह तो कड़वा है। एक कवि पास से निकला तो उसके मुख से स्वतः ये शब्द निकले:—

'ऐ गन्धी मति मन्द तू इत्र दिखावत काहि'

अर्थात् यहाँ इत्र को पहचानने वाला कोई नहीं है। इसी प्रकार सृष्टि-कर्ता ने जो भी सृष्टि में रचना की है, वह आनन्द में, आनन्द के लिए की है। वह मात्र उसकी लीला है। अपनी इस लीला की प्रशंसा करने के लिए उसने अपने ही प्रतिरूप व एकमात्र मानस पुत्र **'जीवात्मा'** को रखा। उसकी लीला को हम संसार महानाट्यशाला में खेला जाने वाला नाटक कह सकते हैं। नाट्यशाला में जैसा खेल खेला जाना है, तदनुसार सुसज्जा होती है। विभिन्न पात्रों व कलाकारों की वेशभूषा व संवाद आदि भी उसी के अनुसार होते हैं। **पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश की यह संसार महानाट्यशाला बनी हुई है।** इसमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि प्रकाश व्यवस्था के लिए लगाए गए बल्ब हैं। वन, जंगल, वनस्पतियाँ, झरने, प्रपात, नदियाँ, खग, मृग, पल्लव, पर्वत, सागर आदि से इस नाट्यशाला की सुसज्जा होती है। जैसा नाटक रोज़ सृष्टिकर्ता **मेरे लिए (जीवात्मा) रचता है, उसी के अनुसार उसमें स्वयं परिवर्तन लाता है।** स्रष्टा उस लीला को दिखाने के लिए जीवात्मा का मानस वैसा ही बना देता है। उदाहरणस्वरूप कोई कॉमेडी का दृश्यांकन होना हो तो पहले हमारे मानस में वैसे ही उल्लास सा आने लगेगा। कई बार त्रासदी का दृश्य होता है, तो उसका आनन्द लेने के लिए हमारे मानस का तद्नुरूप होना बहुत आवश्यक है। नहीं तो त्रासदी का आनन्द हम नहीं ले पाएँगे। मिलन के, विछोह के, सुख के, दुःख के दृश्यों के समय हमारी मानसिक स्थिति दृश्यों के अनुसार होनी आवश्यक है। **हमारा मानस मूलतः ईश्वरीय ही है और विशुद्ध निर्मल आकाश की तरह है। उस सानन्द मानस को स्रष्टा सतोगुणी, रजोगुणी और तमोगुणी,**

विभिन्न मानसिक स्थितियों व भावों के अनुरूप अस्थाई तौर पर अलंकृत करता है। जैसेकि स्थिर, शान्त, स्वच्छ नीलिमामय आकाश का सूर्योदय व सूर्यास्त के विभिन्न दृश्यों, विभिन्न रिमझिम करते मेघों, दामिनी की दमक, काली घटाओं तथा बादलों की गरज, चन्द्रमा, सूर्य आदि नक्षत्रों की विभिन्न कलाओं व छटाओं से नित्य नूतन अलंकरण होता है। इसी प्रकार जल रूप में स्थिर, शान्त सागर का ज्वार-भाटे आदि से अलंकरण होता है।

स्रष्टा ने जैसी इस नाट्यशाला में व्यवस्था दिखानी है, उसके अनुसार आनन्दमय मानस में एक अवस्था निर्मित होती है। **इस अवस्था को हम स्वयं अन्तर्मुखी होकर देख सकते हैं।** व्यवस्था भी निर्मित और हुई-हुआई होती है, लेकिन उसकी प्रस्तुति को देखने के लिए, उसकी प्रशंसा करने के लिए हमारा नज़रिया कैसा है, यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि हमारी अपनी मानसिक अवस्था वैसी नहीं होगी, जिस दृष्टि से रचनाकार ने रचना की है, तो हम उस व्यवस्था की प्रस्तुति का आनन्द नहीं ले पाएँगे, उसकी प्रंशसा नहीं कर पाएँगे।

ईश्वर ने यह लीला रची है, यह सब माया है। इस नाट्यशाला में नित्य नवीन दृश्य आते हैं, चले जाते हैं। कोई भी दृश्य स्थायी नहीं है। अतः पंच-महाभूतों की सृष्टि में रोज़ नया निर्माण, पालन और संहार होता है। इसे शास्त्र ने नित-नूतन कहा है। ईश्वर स्वयं में अनन्त है। अतः उसकी माया भी अनन्त है। उसके पास रंगों, डिज़ाइनों, कहानियों, दृश्यों, साधनों, प्रसाधनों व कलाकारों की कोई कमी नहीं है। संसार महानाट्यशाला में युगों-युगान्तरों से वह स्रष्टा नित्य नूतन मेरे लिए दृश्यांकन करता रहा है। **नित्य देह नई, अवस्था नई और व्यवस्था नई। अवस्था और व्यवस्था दोनों एक दूसरे के समान अनुपात में एकरूप होती हैं। निराकार व सच्चिदानंद स्रष्टा ने लीला में दृश्य रचा है। जीवात्मा को इस लीला का मात्र दृष्टा बनना है।** कोई फिल्म या नाटक देखने जाते समय हम स्वयं में आश्वस्त होते हैं, कि हम एक खेल देखने जा रहे हैं तभी उसका आनन्द लेते हैं। परमात्मा ने जीवात्मा के लिए लीला रची थी और यह **लीला** ही इसे

लील गई। परमात्मा और जीवात्मा दोनों निराकार व अदृश्य हैं। लीला का आनन्द लेने के लिए इसे दी गई देह के साथ इसे (जीवात्मा को) अध्यास हो गया, कि 'मैं यह देह हूँ'। देह रोज़ रंग बदलती है। लीला देखने के लिए लीला-दृष्टि चाहिए थी, लेकिन इसने देह-दृष्टि से इन दृश्यों को देखा और यह भ्रमित हो गया।

विवाह-शादी के बाद माता-पिता की प्राथमिकता उतनी नहीं रहती। पति-पत्नी जो अभी मिले, एक दूसरे को जीवन साथी मानने लगते हैं। पति-पत्नी एक दूसरे के जीवन साथी कब तक रहेंगे और विवाह से पहले का जीवन क्या जीवन नहीं था ! लेकिन हमें यह ज्ञान नहीं होता, कि यह मात्र लीला है। दृश्यों में दृश्य बदल रहे हैं। फिर बेटा-बेटी हो जाते हैं, वे बड़े हो जाते हैं, तो वही कहानी जो हमारे साथ हुई, हम उनके साथ होती देखते हैं। इस पुरानेपन में हमें बहुत नयापन लगता है। वही पुराने दृश्य भी नये लगते हैं। तो यह लीला नहीं तो क्या है? **लीला में सौन्दर्य है, कि ईश्वर अति पुराने दृश्यों को बिल्कुल नया करके दिखाता है।** सबकी कहानियाँ लगभग वैसी ही होती हैं, लेकिन जीवात्मा देह के साथ तद्रूप होकर तथा जीव बनकर लीला में व्यस्त हो जाता है। अनेक सम्बन्ध बना लेता है, कर्मठ बनकर रोज़ आगे बढ़ते हुए उन्नति करना चाहता है। धन-सम्पदा के भण्डार एकत्र करने लगता है। नाम-यश के पीछे दीवाना हो जाता है। जन-बल, शारीरिक, बौद्धिक शक्तियाँ, ज्ञान व विभिन्न डिग्रियाँ अर्जित करने की स्पर्धा में आजीवन ही नहीं जन्म-दर-जन्म भटकता रहता है। कभी संतुष्ट नहीं होता। वहाँ यह लीला उसे निगल जाती है, उसका मूल सच्चिदानंद स्वरूप आच्छादित हो जाता है।

जीवात्मा को रोज़ नये मानस के साथ नई देह मिलती है। मानस मूलतः आनन्दमय है। जैसी लीला स्रष्टा ने दिखानी होती है, तद्नुसार मानस में विभिन्न भावों से अलंकरण होता है। एक ओर ईश्वर पंच-महाभूतों की नाट्यशाला में इन महाभूतों का अलंकरण करता है और दूसरी ओर सानन्द मानस में निराकार में ही अवस्था रूप में एक दृश्यांकन करता है।

उसकी व्यवस्था में साकार प्रस्तुति होती है। विभिन्न दृश्य सामने आते हैं, चले जाते हैं। रात्रि के समय सोने पर समस्त साकार सृष्टि पुनः निराकार हो जाती है। इस प्रकार सृष्टि निर्मित हुई, उसका पालन हुआ और वह नित्य लय हो जाती है। उसमें मेरी (जीवात्मा) देह जिसे आधार बनाकर मैं सृष्टि देख रहा था, वह भी लय हो जाती है। जीवात्मा रहता है, लेकिन **'मैं'** के रूप में उसका उद्घोष नहीं होता।

देह होगी तभी जीवात्मा का **'मैं'** शब्द रूप में प्रकाट्य होगा। **परमात्मा है, इसी प्रकार जीवात्मा भी है। देह के रूप में जीवात्मा का प्रकाट्य होता है।** जीवात्मा यहाँ उलझ गया उसने इस देह को अपना स्वरूप मान लिया, जबकि देह साकार सृष्टि का अधिग्रहण करने के लिए उसे दिया गया एक उपकरण मात्र थी। देह द्वारा पहले से ही निर्मित, पालित और संहारित सृष्टि का मात्र प्रकाट्य होता है। उस सृष्टि को देखने के लिए तदनुसार जीवात्मा की मानसिक स्थिति बनती है जिसकी अवस्था और व्यवस्था बन चुकी है। यह ज्ञान उसे तब होगा जब वह नित्य अपने मूल आनन्दमय स्वरूप में आ जाएगा। इसका अपना कोई संकल्प-विकल्प नहीं होगा, कि आज ऐसा हो जाए अथवा ऐसा नहीं हो। जब अपने आनन्दस्वरूप में आ जाएगा तो इसे ज्ञान हो जाएगा, कि सृष्टि की कोई अवस्था-व्यवस्था मेरे द्वारा निर्मित नहीं है।

जीवन में कुछ भी करना आवश्यक नहीं है, सब कुछ स्वतः होता है। जब अपने आनन्दमय स्वरूप का **'मैं'** क्षण मात्र को भी स्पर्श कर लूँगा तो मुझे देह के साथ तद्रूपता में अपने द्वारा निर्मित जीव-सृष्टि और ईश्वर द्वारा स्वतः निर्मित ईश्वरीय सृष्टि में अन्तर मालूम हो जाएगा। यह कोई विचार अथवा सोच-समझ का विषय नहीं है, कि मैंने यह सोच कर अपनी विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया। हमारी विलक्षण प्रतिभा इसमें है, कि हम ईश्वरीय सृष्टि की झलक पा लें। **सारा समय कालेश्वर के अधीन है, किसी कार्य के लिए कोई समय उचित है या अनुचित इसके निर्णयकर्ता न तो हम हैं, न ही हमें कभी बनना चाहिए।** यदि हम कर सकते हैं, तो हर

कृत्य को ईश्वरीय मानस के माध्यम से देखें। यह हम तभी कर पाएँगे जब हम सद्‌गुरु-कृपा से वास्तव में कुछ क्षणों के लिए अपने आनन्द के असीम क्षेत्र का स्पर्श कर लेंगे। अन्यथा हमें वह ईश्वरीय दृष्टि नहीं मिलेगी। देह के साथ तद्‌रूपता में दृष्टि जीव की होगी, जीवात्मा की नहीं होगी। जीवात्मा एक ही है और वह ईश्वर का एकमात्र मानस-पुत्र है, उसी की भाँति सच्चिदानंद और उसकी सभी छः विभूतियों से ठसाठस ओत-प्रोत है। इसलिए मेरे (जीवात्मा) अतिरिक्त कोई है ही नहीं।

'मैं' (जीवात्मा) देह के रूप में होता हूँ तो जगत होता है, नहीं तो नहीं होता। इसलिए जीव भी यदि है, तो एक ही है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण मैं किसी स्वप्न से जाग्रत होकर रात्रि में देखी हुई स्वप्न-सृष्टि पर विचार करने पर पा जाता हूँ। मान लो, मैंने स्वप्न में देखा कि **'मैं'** स्वप्न वाला शिवकुमार कुछ मित्रों के साथ शिमला घूमने गया, वहाँ कुछ दिन विभिन्न स्थितियों में बिताए। अब मैं (तथाकथित जाग्रत शिवकुमार) उस स्वप्न का जब वर्णन करता हूँ, तो अपने स्वप्न वाली शिवकुमार देह को **'मैं'** मानकर स्वप्न सुनाता हूँ। जिन मित्रों के साथ मैं स्वप्न में शिमला घूम रहा था, उनमें से किसी को **'मैं'** नहीं कहता। जबकि एक ही शिवकुमार सोया। स्वप्न-सृष्टि में वह एक से अनेक रूपों में प्रकट हुआ और तथाकथित जाग्रत भी एक ही हुआ। वह स्वप्न उसकी जीव-सृष्टि थी। **इस प्रकार जीवात्मा भी एक ही है और जीव भी यदि है, तो एक ही है।** तथाकथित जागृति में बस एक **'मैं'** ही रह गया, कि मैंने स्वप्न सृष्टि में यह देखा। तो वह **'मैं'** उस तथाकथित नए शिवकुमार को आधार बनाकर स्वप्न वाला शिवकुमार समझ रही है, क्योंकि शिवकुमार की देह के साथ उसकी तद्‌रूपता हो गई है। जबकि वह भली-भाँति जानता है, कि मैं कुछ मित्रों के साथ शिमला घूमने वाला वह स्वप्न वाला शिवकुमार नहीं हूँ। क्योंकि मैं तो अपने गुड़गाँव वाले घर में जिस बिस्तर पर रात को सोया था, वहीं उठा हूँ। **मैं देह-रूप में शिमला नहीं गया। स्वप्न-सृष्टि में अनेक रूपों में प्रकट होने के बाद 'मैं' निराकार रूप में शेष रहा।** तथाकथित जाग्रत होकर वह अपने सब मित्रों

को जो उसके साथ स्वप्न में शिमला घूम रहे थे, फोन करके आश्वस्त हो जाता है, कि उनमें से कोई उसके साथ शिमला में नहीं था और वह स्वयं भी देह रूप में शिमला नहीं गया था। रात को जिस बिस्तर पर सोया था, उसी से उठा है। जिसने स्वप्न देखा वह भी एक ही था, वह जीव था तथा स्वप्न उसकी जीव-सृष्टि थी। जो आभास मात्र था, वास्तव में कुछ नहीं था:–

''न कित आएबो न कित जाएबो,
राम की दुहाई रे बाबा राम की दुहाई।''

स्वप्न-सृष्टि के हर नाम-रूप में **'मैं'** ही **'मैं'** था और तथाकथित जाग्रत देह का अवलम्बन लेने पर भी **'मैं'** ही शेष रहा। इस प्रकार व्यष्टि **'मैं'** भी एक ही है और समष्टि **'मैं'** भी एक ही है। यदि देह नहीं होगी तो **'मैं'** न व्यष्टि है, न समष्टि है। **'मैं' का प्रकाट्य एक जीव के नाम-रूप की देह होने पर ही होता है। अर्थात् 'सद्' की अनुभूति के लिए देह का होना बहुत आवश्यक है। बिना'सद्' की अनुभूति के देह, यथार्थ नहीं होती। आत्म-चिन्तन के लिए देह आवश्यक है। यथार्थ-देह के लिए आत्म-चिन्तन आवश्यक है।** बिना आत्म-चिन्तन के देह जन्म-मृत्यु के छोरों में बँधी **'असद्'** देह ही रहेगी। बिना देह के आत्म-चिन्तन हो नहीं सकता। स्वप्न-सृष्टि वाले शिवकुमार ने **'मैं'** को आधार दिया। तथाकथित जाग्रत होकर वह विचार करता है, कि मैं वह स्वप्न वाला शिवकुमार नहीं हूँ। मैं कहीं आया-गया नहीं, मैं विशुद्ध जीवात्मा हूँ। वह सारी कहानी मेरे लिए ईश्वर द्वारा रची गई थी। वह एक स्वप्न की देह थी, वह भी नहीं थी और शिमला की वह जो समस्त सृष्टि थी, वह भी नहीं थी। उस स्वप्न-सृष्टि में वह दुःखी-सुखी होता है, लड़ता-झगड़ता है, प्यार-घृणा आदि करता है। **यह एक जीव की सृष्टि है। न वह जीव है, न वह तमाम सृष्टि है।**

प्रश्न उठता है, स्वप्न देखते हुए यह ज्ञान नहीं होता कि यह स्वप्न है। तो जब हम स्वप्न-सृष्टि में विचर रहे हों तब हम क्या करें? हमें यह ज्ञान हो जाए, कि यह समस्त सृष्टि जिसे हम अपनी ज्ञानेन्द्रियों से देख, सुन, सूंघ, स्पर्श और चख रहे हैं वह परिवर्तित होने वाली सृष्टि है। सब नाम-रूपों में

'मैं' ही **'मैं'** हूँ। यदि मैं एक देह हूँ तो जगत भी **'मैं'** हूँ। **'मैं'** दृष्टा हूँ जो एक ही है। सृष्टि के विभिन्न नाम-रूपों में मेरा ही विस्तार है। लेकिन यह सब **'मैं'** एक व्यष्टि-देह के आधार पर ही जान पाता है। व्यष्टि **'मैं'** और समष्टि **'मैं'** दोनों की अनुभूति के लिए मुझे व्यष्टि-देह का आधार चाहिए। **देह है नहीं, थी नहीं और रहेगी नहीं।** एक देह का अवलम्बन लेकर ही **'मैं'** अपने व्यष्टिगत और समष्टिगत रूपों को जान सकता है। व्यष्टि और समष्टि दोनों का आधार एक देह है।

स्वप्न वाली देह का अवलम्बन लिया तो वह व्यष्टि **'मैं'** बनी। किसी से झगड़ा हुआ, किसी से प्रेम हुआ, कहाँ-कहाँ भटका। तथाकथित जाग्रत देह का अवलम्बन लिया तो **समष्टि 'मैं'** बना कि झगड़ा करने वाला और जिससे झगड़ा हुआ, सब **'मैं'** ही **'मैं'** था। वह मात्र एक नाटकीय दृश्य था, मेरे इष्ट की लीला थी, जो मेरे इष्ट ने मेरे मनोरंजन के लिए रची थी। तथाकथित जाग्रत होकर **'मैं'** को अपने समष्टिगत स्वरूप का अनुभव हो गया। लेकिन देह उसके साथ तब भी रही। व्यष्टि **'मैं'** (स्वप्न वाली देह शिवकुमार) के ज्ञान में भी **'मैं'** शिवकुमार ही रहा और समष्टि **'मैं'** (तथाकथित जाग्रत देह शिवकुमार) के ज्ञान में भी मैं देह ही रहा, मेरा देहाध्यास बना रहा। **यद्यपि तथाकथित जाग्रत होकर मैं मान-सम्मान, लेने-देने, पाप-पुण्य से रहित हो गया हूँ, लेकिन देह के साथ तद्रूपता अब भी बनी रही।** समस्त स्वप्न-सृष्टि का रचयिता ईश्वर था, जिसमें अवस्था **'मैं'** (एक नाम-रूप की देह स्वप्न वाला शिवकुमार) और व्यवस्था **'मैं'** (उस स्वप्न की देह पर आधारित सृष्टि) दोनों एक ही हैं। अब तथाकथित जाग्रत होकर मुझे ज्ञान हो जाता है, **कि 'मैं' न वह अवस्था हूँ, न व्यवस्था हूँ।**

सद्गुरु उपाय बताता है, कि लीला देखनी है तो देह चाहिए। **'मैं'** विशुद्ध जीवात्मा है। अतः उस देह शिवकुमार को **'मैं'** मत कह। **उस शिवकुमार देह को तू (ईश्वरीय कृति) मान ले। जिधर देखता हूँ उधर 'तू' ही 'तू' है। दृष्टा 'मैं' है जो निराकार है।** अतः समस्त साकार सृष्टि के

विभिन्न नाम-रूपों में जब **'मैं'** (दृष्टा) सद्गुरु-कृपा से **'तू'** ही **'तू'** (ईश्वर) देखने लगता है, तो अपने विशुद्ध सच्चिदानंद स्वरूप का स्पर्श पा लेता है। **'मैं'** जिस देह का अवलम्बन लेकर सृष्टि को देखता हूँ, उस देह को **'मैं'** नहीं कहना। वह देह भी **'तू'** (ईश्वर) है और समस्त जगत के विभिन्न नाम-रूपों में भी **'तू'** ही है। एक बार यदि हमारी उस मानसिक स्थिति में प्रविष्टि हो जाए, तो हमारी वही एक नाम-रूप की देह **'सद्'** और **'यथार्थ'** हो जाएगी। **देह को 'मैं' मानूँगा तो मैं लीला नहीं देख पाऊँगा।** मैं देह में लिप्त होकर लीला द्वारा लील लिया जाऊँगा। जब **'तू'** ही **'तू' की दृष्टि मिल जाएगी, तभी 'मैं'** जीवात्मा जन्म-मृत्यु, पाप-पुण्य से रहित अपने इष्ट की लीला का दिग्दर्शन करूँगा। तब मुझे ही दी गई वह नाम-रूप की देह, यथार्थ देह हो जाएगी।

परमात्मा ने जीवात्मा को मूलतः यह यथार्थ और **'सद्'** देह ही दी थी। **यह देह 'असद्' तब हुई जब जीवात्मा ने स्वयं को देह के नाम-रूप से पहचाना।** तब वह **'सद्'** देह जो जन्म-मृत्यु से रहित थी, जन्म-मृत्यु वाली **'असद्'** देह हो गई। हाँलाकि अपना जन्म और मृत्यु जीवात्मा ने स्वप्न में भी कभी नहीं देखा। दूसरों को जन्मते-मरते देख इसने अपने जन्म-मृत्यु की कल्पना कर ली और समस्त असद् इसके गले पड़ गया। **समस्त असद् संसार नाम-रूप की अवचेतना में है। 'मैं'** (जीवात्मा) चेतना है, मैं अमुक-अमुक हूँ यह अवचेतना है। यह नाम-रूप की अवचेतना हमारी चेतना को आच्छादित कर देती है। **विशुद्ध 'मैं' पहले देहधारी 'मैं' बनकर जीव-सृष्टि में आकर जीव बन गई। उसके बाद जब उस देह को भी 'तू' यानि ईश्वर माना तो वह जीव-सृष्टि ही उसके लिए ईश्वर की लीला हो जाती है।** इस लीला की समस्त प्रस्तुति इसे दी गई नाम-रूप की देह के माध्यम से होती है। समस्त लीला दो पक्षों में होती है **जीवात्मा को दी गई एक नाम-रूप की देह की अवचेतना तथा उस पर आधारित उस समय का जगत।** यह अवस्था और व्यवस्था मानसिक स्थितियों के अनुसार बदलती रहती हैं। यह समस्त रचना परमात्मा ने आनन्द में की है, जीवात्मा

को आनन्द में दिखाने के लिए है। परमात्मा और जीवात्मा दोनों निराकार और अदृश्य हैं तथा समस्त लीला की प्रस्तुति साकार में होती है। लीला विभिन्न नाम-रूपों में विभिन्न वेशभूषा और अलंकरण के साथ है। **इस लीला का आनन्द लेने के लिए जीवात्मा को अपनी देह सहित विभिन्न नाम-रूपों में 'तू' दृष्टि रखनी होगी।** जब यह कहता है, कि ***'मैंने यार को जां बेजा देखा'*** यहाँ **'मैं'** विशुद्ध निराकार जीवात्मा है, जो अपनी देह तथा समस्त जगत के विभिन्न नाम-रूपों में अपने यार (ईश्वर) को ही देखता है और उसकी लीला का आनन्द लेता है। जीवात्मा उस देह का क्षणिक मात्र अवलम्बन लेता है, ताकि ईश्वर की लीला का आनन्द में अधिग्रहण करे, फिर आँखें मूँद कर अपने विशुद्ध निराकार स्वरूप में आ जाता है। वह किसी भी परिस्थिति में, वस्तु या घटना में लिप्त नहीं होता। जब **'सद्'** दृष्टि हो जाती है, तो जीवात्मा की अपनी देह नहीं रहती। **वह दिव्य ईश्वरीय देह हो जाती है।** जीवात्मा मात्र दृष्टा बनकर ईश्वरीय लीला का आनन्द लेता है। अपने नाम-रूप को यदि ईश्वर के नाम-रूप में समाहित कर दे तो देह भी वही रहेगी और हम भी वही रहेंगे, लेकिन वही देह **'सद्'** व **'चेतन'** हो जाएगी। इस प्रकार समस्त संसार ईश्वरीय नाट्यशाला बन जाएगा।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(11 सितम्बर, 2006)

संघनन, प्रकरण एवं प्रकाट्य

'मैं' जीवात्मा का शब्दरूप में प्रकाट्य है। परमात्मा स्रष्टा है, जीवात्मा दृष्टा है। दोनों सच्चिदानंद हैं, अदृश्य एवं निराकार हैं। मध्य में यह समस्त साकार सृष्टि है। यह साकार सृष्टि दृश्यमान है, जो देखी, सुनी, चखी, सूँघी और स्पर्श की जा सकती है। सम्पूर्ण सृष्टि में निर्माण पालन, संहार, सम्पादन, प्रतिपादन, संचालन अर्थात् समस्त क्रियान्वयन के नेपथ्य में शिव की निहित शक्ति **'वैराग'** ही मुख्य हेतु है। एक प्रकट शक्ति होती है और एक निहित शक्ति होती है। यदि निहित शक्ति नहीं होगी, तो शक्ति प्रकट नहीं होगी। **'वैराग'** शिव की निहित अतिशक्ति है और इससे महाशक्ति प्रकट होती है। यह महाशक्ति है–उसके **पंच-प्राणों** का अदृश्य एवं निराकार **ज्योति-पुंज।**

जब तक हमारे भीतर निहित शक्ति नहीं होगी, तो शक्ति का प्रकाट्य नहीं होगा। निहित शक्ति व उसके प्रकाट्य के तीन आयाम हैं– Condensation, Activation and Manifestation. योगी जब ध्यान में अपने देहातीत निराकार स्वरूप में चला जाता है, तो वह देह होते हुए भी देह की अवचेतना से परे होता है। वह पूर्ण चेतन होता है। उस समय उसकी समस्त शक्तियाँ संघनित हो जाती हैं। वह महाआनन्दमय शिव-स्वरूप हो जाता है:–

''सच्चिदानन्दोऽहम् शिवोऽहम् शिवोऽहम्।''

आनन्द अभावमय है। सुख और आनन्द की परस्पर कोई तुलना ही नहीं है। जो हम इन्द्रियों का सुख लेते हैं, वह आनन्द का आभास मात्र होता

है। हम सबका आनन्द-स्वरूप एक ही है और वह देहातीत है। वह परम सुख जो सबका एक ही है, वह देहातीत होगा ही। सुख और दुःख देह तक हैं। **जब तक हमारा सम्पर्क हमारे अपने ही आनन्द-स्वरूप से नहीं होगा, तब तक हम न सुख भोग सकते हैं, न दुःख का अनुभव कर सकते हैं।** जीवन में अनेक क्षण ऐसे भी आते हैं, जहाँ हमें दुःख में आनन्द आता है:–

''पीड़ा में आनन्द जिसे हो, आए मेरी मधुशाला।''

समय-समय पर विभिन्न मानसिक स्थितियों में मेरा जगत मेरे लिए दी एक देह और उस पर आधारित सृष्टि बनकर प्रकट होता रहता है। इसका कारण मैं (जीवात्मा) नहीं हूँ। साथ ही समय-समय पर प्रकट एक जगत का दूसरे जगत से कोई तारतम्य अथवा लिंक नहीं होता। जो आज हुआ, वह मेरे लिए आज की रचना है। जो कल हुआ, वह कल हुआ और जो कल होगा, वह होगा। इनमें कोई निरन्तरता नहीं है। उस जगत में एक नाम-रूप की मेरी देह और समस्त विभिन्न नामरूपात्मक सृष्टि है, जिसे मैं देख, सुन, चख, सूँघ और स्पर्श कर सकता हूँ। **जो मेरे मानस से उस समय बाह्य प्रकाट्‌य है, वही मेरा जगत है।** इस समस्त दृश्य के दो पक्ष हैं–मेरी देह और समस्त जगत, दोनों एक ही मानस से प्रकट हुए हैं। **मेरा मन देह में नहीं है, बल्कि मेरी देह और समस्त जगत साथ-साथ उस एक मन से प्रकट होते हैं।** समय-समय पर प्रकट विभिन्न जगत भूत और भविष्य सहित स्वयं में एक पृथक् इकाई होते हैं। इसमें किसी भी दृश्य का कारण **'मैं'** (जीवात्मा) नहीं हूँ। कभी हमारे दो दिन परस्पर नहीं मिलते। यदि आज के जगत को मैं कल के जगत की Continuity मान लूँगा, तो यह जन्म और मृत्यु के दो छोरों में बँधा मानव-जीवन बन जाएगा। **प्रत्येक दिन का एपीसोड नित्य नए चलचित्र की भाँति स्वयं में पूर्ण है और समस्त प्रस्तुतिकरण मानस से होता है।** जैसे वी. सी. आर. में कैसेट लगाने पर **'प्ले'** करते ही टिक की ध्वनि के साथ स्क्रीन पर फिल्म आनी शुरू हो जाती है। एक समय के मानस से प्रकट जगत में होने वाले क्रिया-कलापों को देखने, सुनने, सूँघने, चखने और स्पर्श करने के लिए **'मैं'** का शब्द रूप में

उद्घोष परमावश्यक है। मेरी एक नाम-रूप की देह की अवचेतना उस जगत का एक पक्ष है और उसी पर आधारित उस समय का जगत दूसरा पक्ष है। यदि **'मैं'** प्रकट नहीं होती तो जगत के ये दोनों पक्ष नहीं होते।

मैं विभिन्न नाम-रूपों में प्रकट होते हुए भी निराकार व अदृश्य है और सम्पूर्ण जगत दृश्यमान व साकार है। **'मैं'** आँख, कान, जिह्वा, नाक और त्वचा कुछ नहीं है, लेकिन वह इस जगत को देख, सुन, चख, सूँघ और स्पर्श कर सकता है। सम्पूर्ण जगत की **'मैं'** एक ही है। जो एक देह की **'मैं'** है, वही जगत की **'मैं'** है। क्योंकि **'तू'** एक ही है। मेरे लिए इस समस्त प्रस्तुतिकरण का Main Switch मेरी देह में है। पूर्ण भ्रम को देखने के लिए तनिक भ्रमित होना आवश्यक है। प्रश्न उठता है, कि **'मैं'** तो देहातीत, अदृश्य व निराकार है, तो मैं कैसे और क्या देख रहा है? **'मैं'** एक देह का अवलम्बन लेकर उस देह और समस्त जगत को **'मैं'** मानकर देख रहा हूँ अथवा केवल उस देह को मैं मानकर समस्त जगत को स्वयं से पृथक् मानकर देख रहा हूँ। दोनों दृष्टियों में बहुत अन्तर है। **'मैं'** (जीवात्मा) **'मैं'** (समष्टि) को देख रहा हूँ अथवा **'मैं'** मात्र देह (व्यष्टि) के रूप में पृथक्-पृथक् नाम-रूपों को स्वयं से भिन्न-भिन्न देख रहा हूँ।

इस साकार जगत में हम में से प्रत्येक स्वयं के अतिरिक्त सबको देखता है। **'मैं'** एक देह के रूप में दृष्टा नहीं हो सकता क्योंकि वह स्वयं को नहीं देख रहा। यह मेरी व्यष्टि **'मैं'** है। जब मेरी **'मैं'** मुझे भी देखेगी, यानि **'मैं'** देह रूप में किसी दृश्य का दो-चार दिन बाद वर्णन करूँगा, तो मैं स्वयं अपनी देह को भी देख कर सम्पूर्ण दृश्य का वर्णन करूँगा। वह व्यक्ति जो भविष्य में किसी भी भूत का वर्णन करेगा, वह साथ में अपना भी वर्णन करेगा, कि मैंने ऐसा-ऐसा देखा। उस **'मैं'** ने उस भूत के दृश्य में स्वयं को भी देखा। यह मेरी समष्टि **'मैं'** है।

देह के रूप में एक मेरी आज की **'मैं'** है और दूसरी मेरी भविष्य की **'मैं'** है, जिसमें मेरी आज की **'मैं'** भी होगी। वह आज की **'मैं'** जो किसी भूतकाल का वर्णन कर रही है, उस समय वह व्यष्टि **'मैं'** होगी, यद्यपि उस

'मैं' ने भूतकाल की अपनी विभिन्न देहों की **'मैं'** को भी देखा है, लेकिन फिर भी उस समय वह व्यष्टि **मैं** ही होगी। क्योंकि **मैं** एक नाम-रूप की देह के अध्यास से छूट नहीं पा रहा हूँ। मैंने देह को अपना स्वरूप मानकर नाम-रूप में स्वयं को पहचाना है। यह मेरी नाम-रूप में स्वयं की पहचान ही मुझे **'व्यष्टि' 'मैं'** बनाए हुए है। **'मैं'** (जीवात्मा) अदृश्य व निराकार है। जब वह किसी नाम-रूप से बँध जाती है, तो वह जीवात्मा से जीव-कोटि में आ जाती है। वास्तव में जगत के विभिन्न नाम-रूपों में **'मैं'** एक ही है।

'मैं' जीवात्मा है और **'तू'** परमात्मा है। हम भ्रमवश **अपनी देह को 'मैं' और उस पर आधारित जगत को 'तू' मान लेते हैं।** दुर्भाग्यवश, हम जगत को अपनी देह पर आधारित भी नहीं मानते। जगत को अपने हिसाब से देखना और चलाना चाहते हैं, जबकि इसका सम्पूर्ण संचालन ईश्वर के हाथ में है। **जीवात्मा निराकार व अदृश्य आनन्दमय ईश्वरीय मानस है, जिसमें नित्य अवस्था रूप में एक एपीसोड की रिकार्डिंग होती है।** उस समय वही अवस्था देह और जगत के साकार रूप में तदनुसार व्यवस्था रूप में प्रकट होती है। एक मानस से समस्त प्रस्तुति होती है। वह मानस और उसमें एक विशेष अवस्था का अंकन दोनों निराकार हैं, जिसकी यथातथ्य साकार प्रस्तुति इस सृष्टि की प्रकट साकार व्यवस्था है।

इस साकार व्यवस्था में मेरी (जीवात्मा) एक नाम वाली देह और विभिन्न नाम-रूपों में जगत का आधार जीवात्मा को दी गई वह एक देह ही होती है। जब **'मैं'** (जीवात्मा) इस देह की अवचेतना में नहीं होता, तो वह देह और उस पर आधारित जगत दोनों नहीं होते। जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण मुझे अपनी एक मिनिट की झपकी से मिल जाता है। इस सम्पूर्ण जगत के प्रस्तुतिकरण का Main Switch मेरी देह में है। जब यह Main Switch Off हो जाता है तो जीवात्मा का **'मैं'** शब्दरूप में प्रकाट्य (उद्घोष) नहीं होता। जब देह **'मैं'** लगाने की स्थिति में नहीं होती, तो देह बेकार होती है। जैसे सुषुप्तावस्था, मूर्च्छावस्था, विस्मृतावस्था, मृतकावस्था आदि-आदि।

हम जगत को Continuity इसलिए मानते हैं, क्योंकि देह को अपना

स्वरूप मानकर इसके कारण हम स्वयं बन जाते हैं। जीवन में कभी दो दिन एक समान नहीं होते। जीवन भौतिक निरन्तरता नहीं है, लेकिन दृष्टा जीवात्मा एक ही है और स्रष्टा (परमात्मा) एक ही है। जीवात्मा प्रत्येक निराकार मानसिक अवस्था और प्रकट साकार व्यवस्था (सृष्टि) का दृष्टा है। हर अवस्था और व्यवस्था का प्रमाण दृष्टा है, लेकिन देह के रूप में वह प्रमाण नहीं है। हमने तीन सोपान बताए थे–Condensation, Activation, and Manifestation. योगी जब ध्यान में जाता है, तो अपने मानस में आनन्द से ओत-प्रोत हो जाता है। आनन्द अभावमय है, वहाँ आनन्द के अतिरिक्त कुछ नहीं होता। यज्ञ-हवन, जप-तप, ध्यान-धारणा, तीर्थ-यात्रा आदि जितने भी प्रकरण हैं, ये उस संघनित आनन्द का Activation हैं। योगी का हर कृत्य ऐसा ही प्रकरण होता है। उसकी प्रत्येक गतिविधि आनन्दमय मानस की क्रियाशीलता है। विशेष आनन्दमय अनुभूति विशेष मायिक विधा के रूप में साकार में प्रकट करने के लिए विशेष यज्ञादि और पूजा-प्रकरण किए जाते हैं। उसके बाद माया की विभिन्न विधाओं में सुख-शान्ति, सन्तोष, समृद्धि, स्वास्थ्य, स्वजन व सत्संग आदि का प्रकाट्य होता है। **यदि हमारा आनन्दमय मानस विशिष्ट एकाग्रता से उस प्रकरण में क्रियाशील हुआ है, तो आनन्दमय जगत के रूप में प्रकाट्य अवश्य होगा।**

ईश्वर ने जीवात्मा के लिए मानव-देह इसलिए बनाई, कि वह अपने द्वारा निर्मित इस जगत का स्वयं आनन्द लेना चाहता है। मानव-देह में मानव-जीवन जीने के तीन सोपान हैं।–संघनन (Condensation), क्रियाशीलता (Activation), और प्रकाट्य (Manifestation), जो प्रकाट्य आनन्द के Condensation से हुआ है उसके लिए हमें शक्ति अर्जित करने की आवश्यकता नहीं है। उसका हम आनन्द लेंगे।

जप-तप, ध्यान-धारणा, यज्ञ-हवन, तीर्थ-यात्रा, स्वाध्याय, भजन-कीर्तन आदि कर्म ही मानव के लिए प्रकरण हैं। उसके बाद स्वतः प्रकाट्य होता है। इस मायिक प्रकाट्य में प्रभु ने हमसे कुछ करवाना होगा, तो स्वतः करवा लेंगे। यही मानव-जीवन है, जिसमें स्वतः हर्ष, उल्लास,

अभय, आरोग्यता, भक्ति, शक्ति, मस्ती, साहस, उत्साह और आनन्द प्रकट होता रहता है। उत्तरोत्तर इनमें स्वतः वृद्धि होती रहती है। **वास्तव में विरक्ति ही शक्ति है। आसक्ति हमें अशक्त कर देती है। जहाँ आसक्ति होगी, वहाँ शक्ति हो ही नहीं सकती। जहाँ शक्ति होगी, वहाँ आसक्ति नहीं होगी, वहाँ विरक्ति होगी। विरक्ति के चरणों में समस्त शक्तियाँ स्वतः आने लगती हैं।** इसलिए विरक्ति का होना आवश्यक है। हमारे दिल-दिमाग में देह सहित सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का कोई महात्म्य न हो। **महात्म्य हो तो मात्र अपने इष्ट व सद्गुरु का हो।**

जिस ईश्वरीय मानस से हमारी देह हमारे लिए प्रकट हुई है, वहीं से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड भी प्रकट हुआ है। किसी ने अपनी देह स्वयं नहीं बनाई। जहाँ हम देह पर अधिकार जमा लेते हैं, वहाँ सब कुछ बिगाड़ लेते हैं। **लक्ष्मी कमाई नहीं जाती, प्रकट होती है। जब प्रकट होती है, तो अपने सातों अंगों के साथ प्रकट होती है–'सुख, शान्ति, सन्तोष, समृद्धि, स्वास्थ्य, स्वजन व सत्संग।** जब कमाने के लिए भाग-दौड़ की जाती है, तो मात्र धन आता है और लक्ष्मी के शेष छः अंगों को चाट जाता है। धन अर्जित करने का भाव हममें तभी आता है, जब हम स्वयं को अपनी देह के एक नाम-रूप से पहचानते हैं, कि मैं अमुक-अमुक हूँ। यही भाव वह नींव है, जिस पर '**असद्**' का भवन खड़ा होता जाता है। अपनी जागृति में नाम-रूप से परे हटते ही स्वतः ईश्वर की कृपा से Condendsation होने लगेगी। To attain this height of Condensation we should be free. **रात को सोते समय अगले दिन का कोई कार्यक्रम न हो और सुबह उठकर उस दिन का कोई कार्यक्रम न हो।** हम से ईश्वर जो करवा ले, वही हमें करना है, अपनी योजनाएँ नहीं बनानी। इस प्रकार हमारा जीवन आनन्दमय होगा, नहीं तो जीवन नरक बन जाएगा। जीवन में ईश्वर का चिन्तन, ध्यान, सत्संग, सद्गुरु में श्रद्धा-निष्ठा, समर्पण, विश्वास, भजन-कीर्तन, यज्ञ-हवन, जप-तप केवल यही प्रकरण मानव के लिए हैं। **किसी भी तरह से और सब तरह से अपने ईश्वर व सद्गुरु के समीप रहना ही मानव-जीवन का कर्म है।**

इसके बाद जो भी जगत के रूप में प्रकाट्य होगा, उसका हम आनन्द लेते हैं। जीवन में खोना-पाना, हानि-लाभ, मिलना-बिछुड़ना, नाम-यश, सुख-दुःख कुछ भी महत्त्वपूर्ण नहीं है। हमारा मानस आनन्दमय रहे, इसके लिए आनन्द के स्रोत महाचेतन अपने सद्गुरु व इष्ट की सम्मुखता आवश्यक है। नहीं तो हर प्रकाट्य हमारे लिए तनाव का कारण बना रहेगा।

विरक्ति–महादेव है, प्रकरण–ब्रह्मा है और प्रकाट्य–विष्णु हैं। तीनों देवादिदेव महादेव के स्वरूप हैं**। शिव स्वयं वैराग का अखण्ड, अविरल, संघनित स्वरूप है।** भगवान विष्णु के अवतार श्रीराम ने विवाह के बाद गृहस्थ प्रारम्भ न कर वानप्रस्थ जीवन व्यतीत किया। सीताजी के साथ होते हुए भी पूर्ण संयमी जीवन व्यतीत करते हुए 14 वर्ष वनों में वास किया। पिता के तथाकथित आदेश पर राजपाट का त्याग कर दिया। राम का वन-गमन उनकी लीला का अंग था। पिता का आदेश तो निमित्त मात्र बना। विवाह के तुरन्त बाद श्रीराम ने वैराग रूपी पादुकाओं को धारण कर, वन के लिए प्रस्थान किया। **वे पादुकाएँ उनके वैराग का संघनित स्वरूप थीं। भरत को श्रीराम ने अपनी वे पादुकाएँ दीं और भरत ने वैराग रूपी पादुकाओं को सिंहासन पर सुशोभित कर दिया। इस प्रकार वैराग या विरक्ति ने ही 14 वर्ष अयोध्या में शासन किया।** विरक्ति के मंत्री भरत थे, जो श्रीराम के अनन्य भक्त थे। विरक्ति के प्रादुर्भाव से ही भक्ति आती है। विरक्ति संघनन (Condensation) थी, वन-गमन के दौरान व्यतीत किया जीवन उस Condensation की क्रियाशीलता (Activation) थी और बाद में अयोध्या लौटने पर रामराज्य उसका प्रकाट्य (Manifestation) था। रामराज्य की नींव 14 वर्ष के वानप्रस्थ में रखी गई। वन में सन्तों-महर्षियों के सत्संग में Activation हुआ, जिसका प्रकाट्य बाद में रामराज्य के वैभव एवं ऐश्वर्य के रूप में हुआ।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(15 अक्टूबर, 2006)

अनुभूति से अनुभूति तक

अनुभूति नाद है। इसे नादानुभूति (नाद+अनुभूति=नादानुभूति) कहते हैं। **'नाद'** नाभि के क्षेत्र से प्रकट ध्वनि है। नादानुभूति के दो प्रकार हैं—**1. ब्रह्मानुभूति और 2. आत्मानुभूति**। **ब्रह्मानुभूति** शब्दों में नहीं आती, **आत्मानुभूति** शब्दों का रूप ले लेती है। ब्रह्मनाद भी नाद है, वह भी नादानुभूति है। दैवीय अधिनियमानुसार वो शब्दों में प्रकट हो ही नहीं सकती। नाद एक दिव्य ध्वनि है, जो भौतिक कर्णों से श्रवण में नहीं आती। अन्तःकर्ण ही इष्ट-कृपा से उस ध्वनि का आभास कर पाते हैं। **ब्रह्मानुभूति अनिर्वचनीय है, यदि यहाँ शब्द आ गए, तो वह ब्रह्मानुभूति नहीं है। वहाँ कोई व्यवहार नहीं चलता, यह स्थिर, कठिन, गहन मौन है।** आत्मानुभूति से प्रकट शब्दों को आध्यात्मिक सक्रियता कह सकते हैं।

नाद शब्दों का रूप लेता है। वे शब्द स्वतः जिज्ञासुओं व श्रद्धालुओं की जिज्ञासा के अनुसार प्रकट होते हैं। इन शब्दों की कोई योजना नहीं बनती, कि आज इस विषय पर प्रवचन होगा। जिज्ञासुओं की श्रद्धानुसार सद्‌गुरु की आत्मानुभूति स्वतः शब्दों के रूप में प्रकट होती है। सद्‌गुरु कभी सद्‌शिष्यों पर शब्द आरोपित नहीं करता। जब अध्यात्म में शब्दों की योजना बनाई जाती है, तो वह प्रकरण आध्यात्मिक नहीं होता। वाक्‌चातुरी और भौतिक ज्ञान द्वारा उसे सरस और प्रभावपूर्ण बनाया जा सकता है, लेकिन उनका प्रभाव अस्थाई ही होता है। वे बुद्धि को सरस लग सकते हैं, लेकिन अन्ततः हमारे मन को चिर प्रभावित नहीं कर सकते। जब सद्‌गुरु प्रवचन देता है, तो उसकी आत्मानुभूति श्रोताओं, श्रद्धालुओं व जिज्ञासुओं की

भावना के अनुसार स्वतः शब्दों के रूप में प्रकट होती है। जैसी जिज्ञासा होगी उसकी अनुभूति वैसे ही शब्दों का रूप लेती है। एक ही अनुभूति के असंख्य रूप होते हैं। किसी भी अनुभूति से प्रकट हुए शब्द अन्तिम नहीं हो सकते। सद्गुरु की आत्मानुभूति जिस प्रकार की मानसिक स्थिति में विचरते श्रद्धालुओं के सम्मुख शब्दों में प्रकट हुई, उसी के अनुसार अनुभूति शब्द लेती है। यह तथ्य विशेष रूप से विचारणीय है। अतः एक ही अनुभूति के विभिन्न मानसिक स्थितियों के अनुसार प्राकट्य में विभिन्न शब्द होते हैं। हमारे मनीषियों व तत्त्वज्ञों द्वारा आत्मानुभूति विशेष मानसिक स्थिति में जिज्ञासुओं की जिज्ञासानुसार शब्दों के रूप में प्रकट हुई। वही जब किसी दूसरी मानसिक स्थिति में प्रकट हुई, तो वहाँ शब्दों में भिन्नता हो गई। इस प्रकार आलोचनाएँ, प्रत्यालोचनाएँ होने लगीं। जबकि आत्मानुभूति से प्रकट शब्द आलोचना, प्रत्यालोचना का विषय ही नहीं होते।

आत्मानुभूति से शब्द प्रकट हुए और अति श्रद्धालुओं ने उन्हें अपने मन की एकाग्रता से सुना। सुनने के बाद पहले बुद्धि उन पर विचार करती है। विचार के बाद चिन्तन होता है। जब एक ही बात हमारे मन-मस्तिष्क में घूमती रहे—जैसे हमारा कोई प्रियजन आने वाला है, उसे आने में विलम्ब हो तो चिन्ता लग जाती है, कि वह क्यों नहीं आया। वही बात पुनः पुनः हम दोहराते रहते हैं। जब सद्गुरु की आत्मानुभूति से प्रकट हुए शब्द हमारे मन-मस्तिष्क में इसी प्रकार घूमते रहें, तो उसे **चिन्तन** कहते हैं। विचार और चिन्तन हमारी बुद्धि का विषय है। जब हमारे चिन्तन में वे शब्द आ जाते हैं, तो हमारा मन शब्दों पर मनन करता है। अनेक बार बुद्धि को वे शब्द जँच जाते हैं, लेकिन मन नहीं मानता। सद्गुरु की बात बिल्कुल ठीक लगती है, लेकिन मन जब तक नहीं मानता, तब तक बात व्यवहार में नहीं आती। जैसे बुद्धि में पहले चिन्तन हुआ, फिर मन में उसका मनन होता है। चिन्तन व मनन के बाद अर्थात् बुद्धि व मन के आश्वस्त होने के बाद फिर उन्हीं शब्दों पर नित्याध्यासन होता है। उसके बाद सद्गुरु-कृपा में उन शब्दों की प्रोसैसिंग (Processing) होती है।

सद्गुरु की आत्मानुभूति ने सद्शिष्यों की जिज्ञासानुसार शब्दों का रूप लिया। उन शब्दों को श्रद्धालुओं ने अपनी-अपनी श्रद्धा के अनुसार ग्रहण किया। बुद्धि व मन द्वारा चिन्तन-मनन व नित्याध्यासन हुआ। यहाँ तक सद्शिष्यों की भावना (जिज्ञासा व श्रद्धा) की भूमिका है। **जिसकी श्रद्धा नहीं होगी, वह उन्हीं शब्दों का अनर्थकारी अर्थ ही निकालेगा।** न केवल शब्द बल्कि सद्गुरु की प्रत्येक क्रिया का अधिग्रहण सद्शिष्य को **अपनी श्रद्धा** के अनुसार ही होता है। सद्गुरु में श्रद्धा होगी, तो वह सद्गुरु के सब कुछ को प्रणाम ही करेगा। इसके बाद सबसे महत्त्वपूर्ण पक्ष है, उन शब्दों का शिष्य के मानस पर प्रभाव। **उन शब्दों का उचित व अनुकूल प्रभाव सद्गुरु की कृपा में हुई प्रोसैसिंग के बाद ही होगा।** यह पक्ष पूर्णतः सद्गुरु के हाथ में है। यदि कहने, सुनने से अध्यात्म का अधिग्रहण हो सकता, तो टी.वी. आदि पर प्रवचन सुनकर सभी ब्रह्मज्ञानी हो जाते।

सद्गुरु की अनुभूति से प्रकट शब्दों का उचित व अनुकूल प्रभाव सद्गुरु की कृपा से ही होता है। सद्शिष्य की जिज्ञासा व श्रद्धा वहाँ गौण हो जाती है।। **वहाँ नीयत महत्त्वपूर्ण है। 'सद्' को धारण करने की क्षमता और सद्गुरु के वचनों में पूर्ण विश्वास को श्रद्धा कहते हैं।** यह जिज्ञासु की अपनी होती है। उसके बाद वह बात पल्ले पड़ती है, जो मात्र सद्गुरु-कृपा द्वारा ही सम्भव है। **श्रद्धा और विश्वास के साथ उचित प्रभाव के लिए सद्शिष्य की नीयत की विशेष भूमिका है।** विचार, चिन्तन, मनन और नित्याध्यासन तक सद्गुरु की आत्मानुभूति (नादानुभूति) शब्दों द्वारा प्रकट होती है। सद्गुरु की कृपा में होने वाली प्रोसैसिंग के बाद वे शब्द अपना रूप खोकर सद्शिष्य की अनुभूति में उतर जाते हैं। पहले तो सद्गुरु की नादानुभूति जब शब्दों में प्रकट हुई, तभी वह कुछ प्रदूषित हो गई। क्योंकि एक मानसिक स्थिति में शिष्यों की जिज्ञासानुसार नादानुभूति ने शब्दों का रूप लिया। फिर सुनने वाले ने जिस बुद्धि व मन से सुना, विचार, चिन्तन, मनन, नित्याध्यासन आदि किया, उससे वे शब्द और-और प्रदूषित होते रहे। **सद्गुरु की कृपा द्वारा वे शब्द समस्त प्रदूषण से मुक्त होकर**

पुनः अनुभूति में रूपान्तरित हो जाते हैं। जब सद्‌गुरु-कृपा होगी तो प्रासैसिंग के बाद वे शब्द ही समाप्त हो जाते हैं। सद्‌गुरु की नादानुभूति सद्शिष्य की अनुभूति में विलीन हो जाती है, जो सदा सर्वदा के लिए उसकी धरोहर बन जाती है।

आत्म-चिन्तन, आत्म-मनन, आत्मानुभूति और आत्मज्ञान का अन्तिम और स्वयं में पूर्ण सोपान ब्रह्मानुभूति व ब्रह्मज्ञान है। आत्म-चिन्तन यथार्थ-देह में ही हो सकता है। जीवन में यथार्थ हम कर नहीं सकते, यथार्थ स्वतः होता है। यह कृपा का क्षेत्र है, कर्म का क्षेत्र नहीं है। हमारा जन्म स्वतः हुआ, अतः जन्म यथार्थ है, मृत्यु स्वतः होगी, वह भी यथार्थ है। इन दो यथार्थ बिन्दुओं के मध्य हमने देह को अपना स्वरूप मान लिया। हमारे लिए जीवन का **'अर्थ'** आत्म-चिन्तन से आत्मज्ञान न रह कर भौतिक जगत की असीम, अविराम व अनन्त दौड़ हो गया। जीवात्मा देह से तद्‌रूप हुआ जीव बन गया। इसकी देह **असद्** हो गई। **असद्** देह, किसी भी प्रकार से अपने **सद्** स्वरूप से जुड़कर सद्‌गुरु-कृपा से अन्ततः **सद्** व यथार्थ-देह हो जाती है। उसी देह में सद्-जिज्ञासा उत्पन्न होती है, कि मैं कौन हूँ? तभी सद्‌गुरु के श्रीमुख से निःसृत शब्दों का यथार्थ श्रवण, चिन्तन, मनन व नित्याध्यासन होता है और सद्‌गुरु की आत्मानुभूति परम सद्शिष्य की आत्मानुभूति बन जाती है। इस प्रकार यह अनुभूति से अनुभूति की यात्रा है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(29 अगस्त, 2006)

अकाल-काल

रात्रि में सोते हुए हम स्वप्न देखते हैं। हम जागृति में भी कई प्रकार के ख़यालों की सृष्टि में विचरते हैं। उस ख़याल की सृष्टि को स्वप्न नहीं कहा जाता। कोई ख़याल मात्र हमारे मन-मस्तिष्क तक ही रहता है, लेकिन स्वप्न में बाकायदा एक सृष्टि प्रकट होती है। **स्वप्न में हमारी स्वप्न वाली एक नाम-रूप की देह ही उस समस्त सृष्टि का आधार होती है।** सुषुप्तावस्था में हमारी एक नाम-रूप की देह का पूर्णतया लय होना स्वप्न आने से पूर्व आवश्यक है, अन्यथा स्वप्न नहीं आएगा। स्वप्न के बाद तथाकथित जागृति में आने से पूर्व, स्वप्न वाली देह सहित उस समस्त स्वप्न-सृष्टि का पूर्णतः लय होना परमावश्यक है, उसके बिना जागृति नहीं होगी।

निराकार मानस से ही स्वप्न प्रकट होता है। उसी से पुनः तथाकथित जागृति वाली देह व उस पर आधारित दूसरी सृष्टि प्रकट होती है। इस सृष्टि का पहली वाली स्वप्न-सृष्टि से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। स्वप्न वाली देह का **'मैं'** (जीवात्मा) के साथ सान्निध्य होता है और उसके बाद स्वप्न की जीव-सृष्टि प्रकट होती है। वह सृष्टि लीन होती है और **'मैं'** (जीवात्मा) का तथाकथित जाग्रत देह के साथ सान्निध्य होता है। जागकर हम उसे स्वप्न-सृष्टि घोषित करते हैं। स्वप्न-सृष्टि की देह व सृष्टि का पूर्णतः लय होना हमारी जागृति के लिए आवश्यक है। इससे फिर किसी स्वप्न में आने के लिए निद्रा में यह जागृति वाली देह व उस पर आधारित सृष्टि का पूर्णतः लय होना भी आवश्यक है। एक सृष्टि का दूसरी सृष्टि से कोई भी सम्बन्ध नहीं होता। दोनों में किसी देश-काल, परिस्थिति, लिंग,

धर्म-कर्म, कर्तव्य, धारणाओं, मान्यताओं, सम्बन्धों, योजनाओं आदि किसी का कोई तारतम्य अथवा लिंक नहीं होता।

मान लो, मुझे स्वप्न आया, कि मैं बचपन में हूँ। माता-पिता के साथ विदेश घूमने गया, वहाँ दो महीने की छुट्टियाँ बिताईं। एक महीने की छुट्टी और लेनी पड़ी, क्योंकि वहाँ मैं बीमार पड़ गया। वापिस लौट कर क्लास में मुझे मेरे टीचर होमवर्क न करने पर डांट रहे हैं, तभी मेरी नींद खुल गई। मैं लगभग छः घण्टे सोया था। माना कि छः घण्टे लगातार स्वप्न चला हो, तो भी छः घण्टे में तीन महीने का समय मैंने स्वप्न में बिताया। छः घण्टे की अवधि की गणना भी मैंने जागने के बाद की, यह सोच कर कि मैं रात 11 बजे सोया था और 5 बजे उठा हूँ, तो कुल छः घण्टे सोया होऊँगा। स्वप्न में मेरी एक देह तीन महीने देश-विदेश रही। वह देह स्वप्न देखते समय स्वप्न की देह नहीं थी। स्वप्न के उस काल की गणना मैंने इस तथाकथित जाग्रत देह में आकर की। इस जाग्रत देह का उस स्थान, उस काल, उस देह तथा उस समस्त प्रकरण से कोई सम्बन्ध नहीं है।

मैं विचार करता हूँ, कि छः घण्टे के समय के दौरान **'मैं'** तीन महीने कहीं बिता कर आया, तो ये छः घण्टे भी स्वप्न के हैं। वास्तव में यह जो समय है, वह अकाल-काल में एक क्षण के सहस्त्रवें अंश का भी नहीं है। **हमारे मनीषियों ने अकाल-काल से इस त्रिकाल को देखा है।** निद्रा के समय हम अकाल स्थिति में होते हैं। उसके बिल्कुल निश्चित समय की गणना नहीं की जा सकती, क्योंकि नींद कब आई और कब खुली, यह निश्चित रूप से कोई नहीं बता सकता। निद्रा के उस अकाल-काल की गणना हमने जागृति में आकर अनुमान से की। हमने जान लिया, कि लगभग छः घण्टे के समय में हम स्वप्न में तीन महीने का समय बिताकर आए और उसका वर्णन भी कर रहे हैं।

निद्रा में हम साकार और काल-स्थिति से निराकार और अकाल हो गए क्योंकि सोए हुए हमें समय, स्थान तथा साकार सृष्टि की किसी भी विधा का कोई ज्ञान नहीं होता। सोने और जागने के समय को Pin Point नहीं

किया जा सकता। **जिस दौरान हम सोए हुए थे, वह सम्पूर्ण समय, उस समय हमारे लिए अकाल था।** उस अकाल-काल में इस तथाकथित जाग्रत देह के साथ क्या हुआ, हमें इसका कोई ज्ञान नहीं है। **देह के एक अकाल-काल में हम अपनी स्वप्न-सृष्टि के तीन महीनों के काल में घटी घटनाओं का वर्णन करते हैं, तो स्वप्न-सृष्टि की देह और यह तथाकथित जाग्रत देह दोनों एक नहीं हो सकतीं।** वह देश-काल, परिस्थिति बिल्कुल पृथक् थी। अतः स्वप्न-सृष्टि और इस तथाकथित जाग्रत-सृष्टि में परस्पर कोई तालमेल नहीं है। **लेकिन जीवात्मा देह के साथ भ्रमित हुआ दोनों देहों को एक ही मान रहा है, जबकि स्वप्न-सृष्टि में विचरने से पूर्व हमारी देह और उस पर आधारित जगत का निद्रा में पूर्णतया, सम्पूर्णतया लीन होना परमावश्यक है।**

स्वप्न-सृष्टि में कोई पाप या पुण्य हो गया, यद्यपि हमें ज्ञान है कि अब तथाकथित जाग्रत देह व सृष्टि का उससे कोई सम्बन्ध नहीं है लेकिन फिर भी स्वप्न-सृष्टि में हुए कर्मों का आभास जीवात्मा की चेतना में रहता है, कि मुझसे यह हो गया। हम अपनी इस जाग्रत देह को वही स्वप्न वाली देह मान लेते हैं, क्योंकि देहाध्यास में संस्कार परिपक्व हो जाते हैं। स्वप्न में हम किसी कष्ट में हों, तो उस कष्ट का तथाकथित जाग्रत होने पर भी आभास सा रहता है। इसी प्रकार जाग्रत हो कर भी स्वप्न के सुखों की स्मृति रहती है। स्वप्न वाली देह ने कोई पाप-कर्म किया और यह तथाकथित जाग्रत देह उसका भुगतान कर रही है। भ्रम हो गया, कि **'मैं वही हूँ'**। इस भाव ने हमें इस देह में भी अपराधी बना दिया। यद्यपि देह रूप में **'मैं'** वह व्यक्ति बिल्कुल नहीं हूँ, जिसने वह पाप-कर्म किया। **स्वप्न में हुए अपराध का बोझ जाग्रत देह में है, यही प्रारब्ध का कारण है।** इसका कारण मात्र यह है कि जीवात्मा ने उस स्वप्न वाली देह और इस तथाकथित जाग्रत देह दोनों को **'मैं'** मान लिया। **देहाध्यास न हो तो न कोई पाप है, न पुण्य है और न ही कोई प्रारब्ध है।**

स्वप्न के समय एक अवस्था और व्यवस्था प्रकट हुई, जिसका आभास

हम इस तथाकथित जाग्रत देह की अवस्था और व्यवस्था में ले रहे हैं। **जीवात्मा जब देहाध्यासवश जीव-सृष्टि में आता है तो ऐसा ही होता है, जो बहुत ही भ्रमपूर्ण स्थिति है।** साकार से पूर्णतया निराकार में जाने पर (सुषुप्तावस्था) स्वप्न-सृष्टि प्रकट होगी। कोई सृष्टि Continutiy में नहीं है। पहले एक सृष्टि पूर्णतः लय होती है तभी दूसरी सृष्टि प्रकट होती है, दोनों का परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं होता। मानस एक निराकार पर्दा है जिस पर सृष्टि के रूप में दृश्य बदलते रहते हैं। **पाप-पुण्य, शुभ-अशुभ, अच्छे-बुरे कर्मों के बन्धन से मुक्त होने के लिए जीवात्मा को उसके विशुद्ध निराकार स्वरूप की अनुभूति होनी परमावश्यक है। 'मैं' देह नहीं हूँ, देह मेरी नहीं है। 'मैं'** चेतना है। देह और देह पर आधारित जगत अवचेतना में है। वह शिव-शक्ति-क्रीड़ा का बाह्य प्रकाट्य है जिसमें पंच-महाभूतों में सृष्टि प्रकट व लय होती रहती है। एक सृष्टि का दूसरी सृष्टि से कोई सम्बन्ध या तारतम्य नहीं होता।

कभी भी, किसी के भी दो दिन एक जैसे नहीं होते। क्योंकि कल वाली देह और उस पर आधारित जगत रात को सुषुप्तावस्था में पूर्णतया लय हो जाता है। आज की देह नई है, इसे ही शास्त्र ने नित-नूतन कहा है। हर दिन हमारा नया जन्म होता है, लेकिन मानवीय मानस में दृढ़बद्ध संस्कारोंवश **देहाभास** में हम पुराने धर्मों-कर्मों, सम्बन्धों आदि से चिपके रहते हैं। युगों-युगान्तरों से हम भ्रम में ही चले आ रहे हैं। यहाँ जीवात्मा को हुए भ्रम के दो आयाम हैं। प्रथम आयाम में देह व देह पर आधारित जगत के सान्निध्य में उसे देह के साथ भ्रम हुआ, तो वह देह में ही **रम** गया। भरम का **'भ'** हट गया और उसने स्वयं को वह देह ही मान लिया। फिर वह कर्मों-धर्मों, पाप-पुण्य में फँसता चला गया। **फिर तथाकथित जाग्रत देह में उसने विचार किया, कि स्वप्न वाली देह 'मैं' नहीं हूँ। फिर भी स्वप्न में हुई घटना के भय से भयभीत क्यों हूँ? कहीं यह भी तो सपना नहीं है? यदि ऐसा है, तो 'मैं' कौन हूँ?** यहाँ उसे फिर भ्रम हो गया कि देह और सृष्टि मायिक है, उसमें स्वयं के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हो गई। **इस भ्रम के**

बाद वह इष्ट व सद्‌गुरु-कृपा से जाग्रत होता है। पहले वाले भ्रम ने इसे देह में रमा दिया और जीव-सृष्टि में फँसता ही चला गया। लेकिन दूसरे भ्रम से यह जाग्रत होने लगा और अपने लिए ईश्वर द्वारा रचाई आनन्दमय सृष्टि का दृष्टा बन गया।

सृष्टि में अवस्था और व्यवस्था रूप में जीवात्मा को दी गई देह और उस पर आधारित जगत का खेल परमात्मा द्वारा रचाया गया था। सम्पूर्ण सृष्टि में शिव-शक्ति-क्रीड़ा में दो पक्ष हैं। एक, **मेरी (जीवात्मा) नाम-रूप की देह** दूसरे, **सम्पूर्ण जगत।** समस्त जगत जिसमें नाम-रूप की देह **भी** है, उसका मूल व केन्द्र वह एक नाम-रूप की देह **ही** है। सृष्टि पंच-महाभूतों का प्रपंचमय खेल है। जब **'मैं'** जीवात्मा अपने नाम-रूप की देह की अवचेतना में आता है तो समस्त सृष्टि का खेल दृश्यमान हो जाता है। क्रीड़ा का एक पक्ष एक नाम-रूप की मानव-देह है तथा दूसरा समस्त जगत। **यह तथ्य प्रत्येक मानव-देह के लिए सद् है। जैसे आज का दिन एक ही है, लेकिन प्रत्येक के लिए पृथक्-पृथक् है। यदि प्रत्येक मानव यह कहे कि आज का दिन मात्र मेरे लिए ही है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति और किसी का किसी से कोई झगड़ा नहीं है।**

समस्त सृष्टि का अधिग्रहण व प्रस्तुतिकरण करने के लिए उस परमपिता परमात्मा ने मुझे (जीवात्मा को) एक अति विलक्षण, चमत्कारिक व सर्वोत्कृष्ट मानव-देह दी जो स्वयं में मायिक होते हुए भी समस्त सृष्टि का आधार थी। परमात्मा ने जीवात्मा को निर्देश दिया था, कि तुझे मानव-देह देता हूँ, इसका अवलम्बन लेकर तू इस कौतुक व प्रपंच को देख। देखते समय याद रखना, कि यह भ्रम है। इसमें लिप्त नहीं होना। देख कर फिर अपने स्वरूप में आ जाना। **इस जगत में उस नाम-रूप की देह में जैसी तेरे लिए अवस्था बनी है, वैसी ही जगत के रूप में व्यवस्था बनती है। तू दोनों का आनन्द लेना।** फिर आँखें बन्द कर लेना, क्योंकि ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ भी स्वयं में प्रपंच हैं। आँखें बन्द करके नाम-रूप की अवचेतना से परे होकर अपने स्वरूप में आ जाना। तभी तू इस भ्रम का भी आनन्द लेगा और

अपने स्वरूप का भी आनन्द लेगा। **अकाल के ज्ञान से पहले काल का ज्ञान आवश्यक है।** काल और अकाल दोनों का **'सद्'** एक ही है।

सद् कर्म वे हैं, जो भ्रम तोड़ दें। **सद् की अनुभूति से पहले असद् का ज्ञान होना आवश्यक है। यह अवस्था व व्यवस्था परमात्मा की है, जो परिवर्तनशील है। जीवात्मा के मनोरंजन के लिए बनाई गई है।** जीवात्मा को सद्गुरु-कृपा से इस परिवर्तनशील सृष्टि के **'असद्'** द्वारा ही अपने स्थिर, शान्त व सशक्त विशुद्ध निराकार **'सद्'** स्वरूप की अनुभूति होती है। फिर वह देशातीत देश, कालातीत काल, लिंगातीत लिंग, धर्मातीत धर्म, कर्मातीत कर्म, कर्तव्यातीत कर्तव्य, सम्बन्धातीत सम्बन्धों में **विचरता** हुआ लीला करता है एवं लीला देखता है।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(25 जुलाई, 2006)

आनन्दमय मानस

जीवन की समस्त असद् विधाएँ (खोना-पाना, मिलना-बिछुड़ना, लाभ-हानि, सुख-दुःख, यश-अपयश, मान-अपमान, जन्म-मृत्यु, काल, सम्बन्ध आदि) हमारी देह के नाम-रूप की अवचेतना के ही कारण हैं। देह के नाम-रूप की अवचेतना में आते ही हमारा **'सद्'** जीवन **'असद्'** बन जाता है। **भौतिक वस्तुपरक प्राप्तियों अथवा खोने को हम जीवन का यथार्थ मान लेते हैं, जबकि यह भ्रम है। हम अपनी मानसिक आनन्दमय स्थिति की उपेक्षा कर देते हैं।** वस्तुतः आनन्द ही जीवन का **'सद्'** है। हम साधारण मानवीय मनोविज्ञान का अध्ययन करें, तो पाएँगे कि **आनन्द ही अज्ञात रूप से हमारा लक्ष्य होता है।** किसी को बहुत वर्ष की प्रतीक्षा के बाद पुत्र प्राप्त हुआ हो, तो हम पूछते हैं, कि अब तो आप बहुत प्रसन्न व आनन्दित होंगे? **व्यावहारिक दृष्टि से भी प्राप्ति अथवा खोने के बाद की मानसिक स्थिति ही प्रभावकारी होती है।** नए मकान का बन जाना, किसी पद का प्राप्त होना अथवा खोना तथा अन्य भौतिक लाभ-हानि आदि का महत्त्व उसके बाद की आनन्दमय मानसिक स्थिति के कारण ही है। **खोना-पाना, जन्म-मृत्यु, सुख-दुःख सब भौतिक हैं, इनका प्रभाव हम पर तब पड़ता है, जब तदनुसार हमारी मानसिक स्थिति प्रभावित होती है।** किसी-किसी को कुछ भौतिक प्राप्ति अथवा खोने से विशेष अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि उनका मन ईश्वर से जुड़ा हुआ होता है, उनके लिए वस्तुओं का महात्म्य ही नहीं होता।

कई लोग शारीरिक रूप से पूर्ण स्वस्थ होते हुए भी मानसिक तौर पर

रुग्ण होते हैं। कुछ प्राप्ति होने पर भी भयभीत एवं तनावित हो जाते हैं। **जन्म और मृत्यु के दोनों छोरों में काल से बँधे हुए असद् जीवन में हम यह भूल जाते हैं, कि कुछ भी पाने अथवा खोने के पीछे अज्ञात लालसा आनन्दमय मानसिक स्थिति की ही होती है, जोकि हमारे हाथ में है ही नहीं।** हमारी यह चाह होती है, कि हमें यह मिल जाए अथवा इससे हमारा पीछा छूट जाए तो मज़ा आ जाएगा। अब मज़ा आ जाएगा, यह वो मानसिक स्थिति है, जो किसी वस्तु, पद अथवा कुछ भी पाने या खोने के बाद मिलेगी। वस्तुतः सूक्ष्मता से देखें तो हमें लालसा किसी वस्तु, पद या पदार्थ की नहीं है, बल्कि उस आनन्दमय मानसिक स्थिति की है। वह आनन्दमय मानसिक स्थिति हमारी कल्पना मात्र होती है, क्योंकि हम नहीं जानते, कि उस वस्तु की प्राप्ति अथवा अपनी किसी भी चाह की पूर्ति के बाद हमारी मानसिक स्थिति क्या होगी? हमारे समस्त कार्यों की गुणवत्ता और दिशाएँ तथा शक्तियों की प्रेरक उस काल्पनिक मनःस्थिति की लालसा ही होती है। हम अज्ञात रूप से उस प्राप्ति की कल्पना कर लेते हैं और उसके बाद मानसिक स्थिति का निर्णय भी अपने हिसाब से तुरन्त कर लेते हैं, कि फिर तो मज़ा आ जाएगा।

खोना-पाना, आना-जाना, साधना करना, उपासना करना, हँसना-रोना सभी क्रियाएँ हैं। हमारे सम्मुख जो कुछ भी दृश्यमान होता है, वह ईश्वर द्वारा निर्मित, पालित और संहारित होने वाली सृष्टि का स्वतः प्रकाट्य है। इसे जब हम अपने द्वारा किए गए कृत्यों का फल मान लेते हैं, तो वहाँ हमारी लिप्तता हो जाती है। मुझे मायावश भ्रम होता है, कि मैं करता हूँ, जबकि मुझसे करवाया जाता है। सृष्टि में सब कुछ हो रहा है और हमारे द्वारा भी करवाया जाता है। क्योंकि कोई भी कृत्य व्यक्तिगत है ही नहीं। जो भी स्वतः होता है, वह हमारे हित के लिए ही होता है। **होने को करना मान लेने में मानसिक स्थितियाँ बदल जाती हैं।**

साधना और उपासना जब होगी अथवा की जाएगी, दोनों सूरतों में हम आनन्दमय मानसिक स्थिति ही पाना चाहते हैं। यदि हम साधना, उपासना

करना भी चाह रहे है, तो उसके बाद पाना क्या चाहते हैं और जो पाना चाहते हैं, उसकी प्राप्ति के बाद मानसिक स्थिति क्या होगी? वस्तुतः किसी भी वस्तु की प्राप्ति प्रत्यक्ष रूप से तो हमारा लक्ष्य रहता है, लेकिन अज्ञात रूप से हम आनन्दमय मानसिक स्थिति की लालसा से प्रेरित होकर ही कर्म करते हैं। **यह पूर्णतः स्पष्ट और पूर्णतः गुप्त तथ्य है, जो प्रत्यक्ष होते हुए भी अप्रत्यक्ष रहता है, यही हमारा दुर्भाग्य है।**

मानव-जीवन आनन्द के प्रकाट्य के लिए है, क्योंकि मानव का स्वरूप ही सच्चिदानंद है। **आनन्द को भौतिक वस्तुओं, पदार्थों, प्राणियों से जोड़ना अज्ञानता है।** मूलतः हमारी मानसिक स्थिति आनन्दमय ही है। उसके प्रकाट्य के लिए भौतिक रूप से एक दूसरे से प्रेम से मिलना, परस्पर हित-चिन्तन, नृत्य-गायन, उत्सव मनाना आदि भौतिक प्रकरण होते हैं। **किसी भी प्राप्ति अथवा खोने के बाद की मानसिक स्थिति में यदि आनन्द का प्रकाट्य नहीं है, तो वह ईश्वरीय नहीं है।** यदि हमारी आनन्दमयी मानसिक स्थिति मात्र साधना व ईश्वरीय ध्यान द्वारा बन जाए, तो वहाँ भौतिक वस्तुओं की प्राप्तियों अथवा खोने का महात्म्य ही नहीं रहता।

पंच-प्राणों का शक्ति-पुंज, शिव की अतिशक्ति वैराग से प्रकट होता है। वैराग अथाह है। वैराग होगा तो पंच-प्राण प्रकट होते हैं और वे उसी में समाहित हो जाते हैं। पंच-प्राणों से सहज जड़ पंच-महाभूतों का प्रकाट्य होता है। पंच-महाभूतों में क्रियान्वयन शिव के वैराग से होता है, जो अदृश्य भस्मी के रूप में इनके कण-कण में समाहित रहती है। पंच-महाभूतों के द्वारा ही महासृष्टि में निर्माण, पालन व संहार होता है। संहार के समय पंच-महाभूतों में विलय के बाद तत्त्वातीत तत्त्व भस्मी का प्रकाट्य होता है। **भस्मी, वैराग की भौतिक प्रतिनिधि है।** पंच-महाभूतों की सृष्टि में जहाँ भस्मी रूपी वैराग का आधिक्य होता है, उसका मूल्य बढ़ जाता है। चराचर जगत में चाहे वह प्राणी हो, मानव हो, वृक्ष हो, नदी हो, पर्वत हो, कुछ भी हो, उसके संगम में स्वतः भाव से अथवा साधना-उपासना से जहाँ वैराग का आधिक्य होगा, उसका मूल्य बढ़ जाता है। समस्त रत्नों में वैराग रूपी भस्मी

की अधिकता से कीमत व चमक बढ़ जाती है। **जहाँ चमक कृत्रिम रूप से निर्मित की जाती है, वह चमक राग और लिप्तता की है।** जहाँ चमक स्वतः होती है—वह वैराग है।

प्राकृतिक हीरा—वैराग है। कृत्रिम हीरा—राग है। आकाश में नक्षत्र, सागर में रत्न, पृथ्वी में धातुएँ (स्वर्ण आदि) इन महाभूतों का वैराग है। इसी प्रकार मानव में जब वैराग का आधिक्य हो जाता है, तो वह ईश्वर-तुल्य हो जाता है। कोई महापुरुष ईश्वर के कितना निकट है, इसे वैराग ही प्रमाणित करता है। **उसमें वैराग की स्वतः प्रस्फुटित चमक है अथवा राग की कृत्रिम व बनावटी चमक है। वैराग की चमक को राग की चमक से और चमकाया जा सकता है, परन्तु मूलतः चमक वैराग की ही होती है।** यह ईश्वर की बहुत चमत्कारिक लीला है, कि वैराग ही समस्त गुणों और विभूतियों का आधार है। गंगा नदी स्वर्ग से लोक-कल्याण के लिए धरती पर उतरी। यह उसका वैराग है। **जिस मानव में स्वतः जन-कल्याण की भावना हो, वैराग के आधिक्य के कारण सम्पूर्ण विश्व ही उसकी विराट देह के समान होता है, वह मानव पूजनीय होता है। वैराग विभूत्यातीत विभूति है, जिससे सौन्दर्य, ज्ञान, शक्ति, ऐश्वर्य, ख्याति आदि विभूतियाँ प्रकट होती हैं।** हम मानव मायावश, भ्रमवश, सत्संग के अभाववश वैराग और तत्त्वातीत तत्त्व भस्मी को भूलकर अपनी स्वयं की ही धरोहर पाँचों विभूतियों को मायिक वस्तुओं व पदार्थों में पाना चाहते हैं। कृत्रिम सौन्दर्य प्रसाधन हमारे सहज सौन्दर्य को आच्छादित कर देते हैं। मायिक जगत में कितना भी धन, ज्ञान, ख्याति, शक्ति आदि मिल जाए, लेकिन हम असंतुष्ट रहते हैं, क्योंकि सूक्ष्म रूप से हमारी स्वरूपगत विभूतियों के सम्मुख वे प्राप्तियाँ कुछ भी नहीं होतीं।

जीवात्मा अपने परम पिता ईश्वर की भाँति सच्चिदानंद व छः विभूतियों से युक्त है। उसे अपनी विभूतियों की धुंधली सी स्मृति है। देह का सान्निध्य पाने पर वह स्वयं को देह मानकर भ्रमित हो जाता है और अपनी उन विभूतियों को मायिक जगत में ढूंढना अपना कर्तव्य बना लेता है।

और-और की चाह में भाग-दौड़ करता रहता है। जो जीवन में स्वयं एवं स्वतः प्रकट होता है, उसमें उसे भ्रम हो जाता है, कि यह मेरे करने से हो रहा है। यही उसकी लिप्तताएँ हैं। जो स्वयं हो रहा है, उसके लिए जब मैं मान लेता हूँ, कि 'मैं कर रहा हूँ', तो मैं उसमें लिप्त हो जाता हूँ। **यहाँ बस यह मानना है, कि ईश्वर करवा रहा है और मेरे द्वारा हो रहा है।** ईश्वर मेरे अतिरिक्त किसी से भी करवा सकता है, मैं न भी करूँ तो यदि कुछ होना होगा, तो होगा ही। मेरे द्वारा, मेरे लिए हो रहा है और किसी के लिए हो रहा है। किसी के द्वारा भी मेरे लिए हो रहा है, क्योंकि करने-कराने वाला ईश्वर ही है। **यह भाव-परिवर्तन तब आएगा जब वैराग का आधिक्य होगा।** मैं कर रहा हूँ, यह सबसे बड़ा भ्रम है, जब मैं करूँगा तो थकूँगा। मैं कर्ता बनूँगा तो भोक्ता भी बनूँगा। दैवीय अधिनियमानुसार कई धाराएँ लग जाती हैं। पृथ्वी में भूकम्प आते हैं, नदियों में बाढ़ आती है, वायु द्वारा वायु प्रलय होती है, समुद्र में सुनामी आती है, आदि-आदि। उन्हें कोई कर्मबन्धन नहीं होता, क्योंकि वे ईश्वर-इच्छा में कार्यरत होते हैं। हम इस भ्रम से बाहर कैसे आएँ? जहाँ भी होने पर करने की मोहर लग जाएगी, वहीं तनाव हो जाएगा। **होने में आनन्द है और करने में तनाव है। इसके लिए वैराग और समर्पण चाहिए।** 'मैं' (जीवात्मा) देह नहीं हूँ', लेकिन स्वयं को देह मानते ही वैराग लुप्त हो गया और अपनी ही धरोहर पाँच विभूतियों की ललक जाग्रत हो गई। यह ललक और चाह हमारी मूल स्वाभाविक और स्वतः प्राप्त विभूतियों को आच्छादित कर देती है। मायिक जन-बल तथा अन्य शारीरिक, बौद्धिक व मानसिक शक्तियाँ स्वरूपगत शक्ति को, बनावटी कृत्रिम सौन्दर्य सहज स्वरूपगत सौन्दर्य को तथा कृत्रिम यश स्वाभाविक ख्याति को आच्छादित कर देता है। **हमारी स्वरूपगत विभूतियाँ वैरागयुक्त हैं और कृत्रिम अर्जित विभूतियाँ रागयुक्त हैं।** हम जीवन दर जीवन आसक्तियों को लिए हुए मरते व जन्मते हैं, क्योंकि हमारी स्वाभाविक मूल विभूतियाँ, अर्जित की हुई विभूतियों के लेश मात्र भी समकक्ष नहीं ठहरतीं। हम नहीं जानते, कि हम क्या चाहते हैं और हम जानना भी नहीं चाहते।

जब यह धारणा मन में दृढ़ हो जाएगी, कि सब कुछ हो रहा है। मेरे द्वारा भी प्रभु ही सब कुछ करवा रहे हैं, तब मानसिक आनन्द ही हमारा लक्ष्य होगा। जब हम यह मान लेंगे, कि मैं कर रहा हूँ, तो हमारा लक्ष्य किसी वस्तु, पद, धन आदि की प्राप्ति होगी। वहाँ मानसिक आनन्द खो जाएगा और वस्तुओं की प्राप्ति होते हुए भी हम तनावित, भयभीत ही रहेंगे, क्योंकि हमारा सबका जीवन में एकमात्र लक्ष्य मानस का आनन्द ही है। जितनी भी साधना-उपासना, प्राणायाम, भक्ति, यज्ञ-हवन, ध्यान-धारणा, जप-तप आदि के पीछे प्रेरक शक्ति क्या है, यह हमें जानना होगा। कोई भी पुरुषार्थपरक, भक्तिपरक प्रकरण मैं क्यों करना चाहता हूँ? कौन सी वह मानसिक स्थिति है, जिसे मैं प्राप्त करना चाहता हूँ? मैं विचार करूँ, कि क्या उस मानसिक स्थिति की प्राप्ति मुझे कुछ करके होगी? **आनन्दमय मानसिक स्थिति की प्राप्ति कृपा-साध्य है, कर्म-साध्य नहीं है।**

आनन्दमय मानसिक स्थिति को लेकर प्रभु-कृपा से कार्य हो तभी कोई साधना या उपासना फलीभूत होती है। साधना व जप-तप के दौरान हुए कष्ट, तब कष्ट नहीं लगते। वे भी आनन्दमय हो जाते हैं। कभी तीर्थ में भगवद् दर्शन की लालसा से प्रेरित हो यात्रा की जाए, कि चाहे मार्ग में कितनी कठिनाइयाँ हों, चाहे प्राण छूट जाएँ मगर एक बार दर्शन हो जाएँ। ऐसी साधना ईश्वरीय है, जो बहुत आवश्यक है। यहाँ आनन्द की स्थिति दर्शन से पहले ही बन गई है। यह कृपा है। हमारा भाव यह रहना चाहिए, कि प्रभु ! तुम्हारी कृपा से ही तुम्हारा दर्शन सम्भव है। मैं स्वयं में कुछ भी करने योग्य नहीं हूँ। मैं असमर्थ, अशक्त हूँ, तो आनन्दमय मानसिक स्थिति एक ही स्थान पर बैठे-बैठे बन जाएगी। **यह उपासना है।** जब हम कुछ प्रकरण करके देव-दर्शन पाते हैं, जप-तप आदि द्वारा आनन्दमयी मानसिक स्थिति की अनुभूति करते हैं, तो **वह साधना है। साधनापरक कृत्यों द्वारा उस ईश्वर-मिलन की आनन्दमय स्थिति के लिए हमने जो-जो कृत्य किए, उन्हें करते हुए भी यह भाव होने पर, कि प्रभु ! आपकी कृपा से यह सब कुछ हो रहा है, वहाँ प्रत्येक साधना भी उपासना में बदल जाती है।**

उपासक जानबूझ कर साधना नहीं करना चाहे, ऐसा भाव नहीं होता। वह साधना करते हुए भी ऐसा मानता है, कि प्रभु-कृपा से हो रहा है, मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ। साधना में यह महत्त्वपूर्ण है, कि करते हुए यह भाव रहे, प्रभु, तुम करवा रहे हो,, मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ। इस प्रकार साधना साथ ही साथ उपासना में परिवर्तित होती रहती है। **यह भाव आ जाना, कि तुम करवा रहे हो, यह प्रभु की कृपा है। यदि यह भाव रहा, कि मैंने इतने वर्ष साधना की, तप किया, फिर मुझे कुछ प्राप्ति हुई तो इसका अर्थ है, कृपा अभी तक नहीं हुई।** इस प्रकार साधनापरक जप-तप से भौतिक प्राप्ति हो सकती है। जो हुआ है, उसके लिए आपके मन में यदि भाव है, कि मैंने किया है, तो इसका तात्पर्य है, कि आप उसमें लिप्त हैं। उस कार्य के फल के भोक्ता भी आप बनेंगे।

वस्तुतः हमने कुछ किया ही नहीं होता। हम व्यर्थ ही अपनी धारणाओं और मान्यताओं का बोझ ढोते रहते हैं। 'मैंने किया है', की मान्यता हमारी समझ से हट जाए, यह मानव-जीवन का लक्ष्य है। साँप किसी को डस ले, साँड किसी को मार दे, तो वह पापी नहीं होता, क्योंकि उसके द्वारा हुए कृत्य की उसे मान्यता नहीं है, कि मैंने किया है। प्रत्येक प्राणी की प्रकृति ईश्वर द्वारा निर्मित है। यदि हम ईश्वर का प्रेम चाहते हैं और उसके लिए जप-तप, पूजा-उपासना, यज्ञ-हवन, ध्यान-चिन्तन, श्रवण-मनन कुछ भी कर रहे हैं, तो उसके लिए यही भाव होना चाहिए, कि प्रभु, तुम करवा रहे हो। **यदि कर्ता भाव होगा, तो निश्चित रूप से वे प्रकरण कुछ भौतिक सिद्धियों की प्राप्ति के लिए किए गए होंगे। जिनका फल अस्थाई ही रहता है। उनसे क्षणिक सुख की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु आनन्द की नहीं।**

बन्धन और मोक्ष दोनों मानसिक स्थितियाँ हैं। जो हम करते हैं, वह साधना है, कि इतने माला जाप करने ही हैं। लेकिन उसीमें गणनातीत हो जाना, कि प्रभु मैं कर ही नहीं सकता, जो भी हुआ आपकी कृपा से हुआ। मैं नहीं जानता जप-तप क्या होता है ! **वहाँ साधना ही उपासना बन जाती है**

और तभी कृपा होती है। साधना में कृपा यह है, कि प्रभु आप करवा रहे हैं। उपासना में कृपा यह है, कि प्रभु, आपकी कृपा से मैं आपके सम्मुख बैठा हूँ। तुम्हीं प्रार्थना करवा रहे हो, तुम्हीं नाम जपवा रहे हो, इस भाव में प्रविष्टि के साथ ही कृपा का प्रवाह हमारी ओर हो जाता है। जो साधना अपने अहं से, कर्ता भाव से की जाए और जो ईश्वर कृपा से समर्पित भाव से हो, दोनों की मानसिक स्थितियों में आकाश-पाताल का अन्तर है। सद्‌गुरु व इष्ट ऐसी वस्तु नहीं देते, जो हमारे हित में न हो। **प्राप्तियों में हित की बजाए अहित भी हो सकता है।**

हम मानव दृश्यमान वस्तु को ही देखते हैं, वस्तु की प्राप्ति के पश्चात् मानसिक स्थिति को उपेक्षित करके वस्तु की प्राप्ति की ओर ही प्रेरित होते हैं। उसकी प्राप्ति के बाद की मानसिक स्थिति से हम कभी-कभी जानते-बूझते हुए भी अपरिचित रहते हैं। **हम प्रभु चरणों में समर्पित होकर कार्य करें, कि प्रभु, जो भी हो, मेरे हित में हो। तो कार्य के दौरान हमें आनन्द ही आनन्द रहेगा। हर कृत्य किया हुआ की जगह हुआ-हुआ में परिवर्तित होकर साधना व उपासना बन जाएगा। कृत्य में लिप्तता नहीं रहेगी। खोना-पाना सब आनन्दमय होगा।** यह छोटा सा तथ्य यदि हम आत्मसात् कर लें, तो हम प्रारब्ध और पाप-पुण्य से हमेशा के लिए मुक्त हो जाएँगे।

''बोलिए सियावर रामचन्द्र महाराज की जय''

(5 – 6 सितम्बर, 2006)